सम्पादक

वीप्रसाद चट्टोपाध्याय

अनुवादक

हंसकुमार तिवारी

क्रम

सत्य की खोज में

इस पुस्तक में हम ठीक क्या कहना चाहते हैं ? कहना यह चाहते हैं कि आदिम युग से लेकर आज तक मनुष्य ने दुनिया को किस तरह से समझने की कोशिश की है और किस तरह अपने-आपको, मनुष्य को जानना चाहा है।

हमारे दिमाग में ख्याल बहुत तरह के हैं। कोई पुराने जमाने का है तो कोई नए जमाने का। ये ख्याल आए कहाँ से ? इन ख्यालों में ठीक कौन है, गलत कौन ?

हम समय-समय पर तरह-तरह की बातों का विश्वास करते हैं। हमारे लिए यह जानना जरूरी है कि उनमें से कौन-सा विश्वास सही है, कौन-सा गलत। लेकिन यह समझें किस तरह कि सही कौन-सा है, गलत कौन-सा है ?

संसार में बहुतेरे ज्ञानी महापुरुषों का जन्म हुआ है। उन्होंने जानने की बहुत-बहुत बातें बताई हैं। उन बातों को

जानना जरूरी है। समझना जरूरी

इस पुस्तक में इतनी जगह तो
बातें अलग-अलग बताई जा सकें।
उन्हीं की चर्चा करेंगे, जिन्होंने सत्य
में मनुष्यों को बड़ी देन दी है।

इसके अलावा हम भिन्न-भिन्न
के व्यवहार की भी चर्चा करेंगे।
पीछे ऐसे विश्वास छिपे हैं, जो आ
लेकिन उनका हमारे जीवन पर अ
ऐसे विश्वास गलत हैं तो हम ग
इसलिए व्यवहार की ओट से उन वि
पड़ेगा—विचार करके यह देखना
गलत।

न सूरजमुखी फूल हैं

चलिए, जरा आस्ट्रेलिया की सैर कर आएं।

उस देश के कोने-कतरे में आज भी बहुत-से आदिवासियों : दल बसते है, जो असभ्य दशा मे पड़े हुए है। वे क्या सोचते-चारते हैं, यह सुनकर आप दंग रह जाएंगे।

किसी दल के एक आदमी से पूछिए—क्यों भैया, तुम ौन हो ?

तो शायद वह आव-ताव देखे बिना कह बैठेगा—हम ंगरू हैं।

आप आँखों देख रहे हैं कि वह अच्छा-खासा एक आदमी ; और कहता है कि हम कंगरू हैं ! आप जरूर सोचेंगे, हो न ो इसका दिमाग खराब है। सो आपने किसी दूसरे से कहो ूछा—क्यों भई, आप ?

सो वह भी वही कहेगा—मैं कंगरू हूं। सुनकर आप हैरान होंगे।

लेकिन आपको हैरान होते देख वे भी कम हैरान न होंगे। सोचेंगे, इतनी छोटी-सी बात भी समझ में नहीं आती ? असल में हमारे दल के सब का जन्म तो कंगरू से ही हुआ है। इसी-लिए हमें कंगरू मारने की मुमानियत है, कंगरू खाने की मुमानियत है। आपस में ब्याह-शादी भी बन्द। यानी अपने ही दल में एक-दूसरे की शादी नहीं हो सकती।

आपने ख्वाब में भी यह नहीं सोचा होगा कि मनुष्य भी ऐसी अजीब बात सोच सकता है, कह सकता है। आप सोचेंगे, यह सारा-का-सारा दल ही शायद पागल है। सो आप किसी

दूसरे गिरोह के पास जाएँगे।

पूछेंगे—तुम लोग कौन हो ?

वे शायद यह कहें, अरे, हमें नहीं जानते आप ? हम सूरजमुखी फूल हैं।

सूरजमुखी फूल ? इसका क्या मतलब ?

वे कह उठेंगे—इतना भी नहीं समझते आप ? सूरजमुखी फूल से ही हमारा जन्म हुआ है। इसलिए हमें सूरजमुखी फूल खाने की मुमानियत है, सूरजमुखी फूल से ब्याह की मनाही है।

आप सोचेंगे—बात तो ये भी वही कहते हैं ! फर्क इतना ही है कि ये जीव-जन्तु के बदले पेड़-पौधे पर आए।

सो आपने पूछा, लेकिन तुम्हें क्या कंगरू खाने की मुमानियत है ?

वे बोल पड़ेंगे—वाह, हमें क्यों मुमानियत होगी भला ! हम कंगरू थोड़े ही हैं कि हमें कंगरू खाने की मुमानियत होगी।

इतना देखने-सुनने के बाद आपको थोड़ा-बहुत अन्दाज होगा कि वे क्या सोचते-विचारते हैं। एक-एक दल ने किसी जीव-जन्तु या पेड़-पौधे के नाम से अपना नाम रखा है। उनका खयाल है, हम सब लोग इसी जन्तु या पेड़ की सन्तान हैं। और इसी विश्वास पर उनका कुछ निषेध या मनाही है। जैसे, खाने की मनाही, शादी-ब्याह की मनाही। खास तौर से इन्हीं दो बातों की मनाही।

हमारा गोत्र काश्यप है

और उसके बाद आप आस्ट्रेलिया से लौट आए भारत।

कलकत्ते की सड़क पर हो गई किसी सज्जन से भेंट। आपने उनसे उनका गोत्र पूछा।

वे बोले—हम चटर्जी हैं—काश्यप गोत्र। काश्यप नहीं समझते? काश्यप के मानी है, कच्छप—कछुआ। इसीलिए कछुआ खाना हमें मना है, काश्यप गोत्र की किसी लड़की से मैं ब्याह नहीं कर सकता।

उनकी बातें सुनकर आपको एकाएक आस्ट्रेलिया की बातें याद हो आएँगी। नहीं क्या?

फिर कहीं आप जा पहुँचे मेदिनीपुर। वहाँ आपको अजीबोगरीब उपाधियाँ मिलीं—कोई बाघ हैं, तो कोई हाथी, और कोई तो हैं स्यार महोदय। जीव-जन्तु और पेड़-पौधों पर ही मनुष्यों ने अपना नाम रखा है—उधार लिया है—अब यह बात आपकी निगाह से बाहर नहीं।

और वहाँ से कहीं आप जा निकले सन्ताल परगना। तो पाएंगे कि पशु-पक्षी और जीव-जन्तु पर नाम रखने की व्यवस्था और साफ समझ में आती जा रही है। सन्तालों के किसी दल का नाम एर्गो है, तो किसी दल का मुर्मू। एर्गो के मानी है चूहा और मुर्मू माने नील गाय। किसी दल का नाम है हेरमन, किसी का मारुड़ी। हेरमन का मतलब है सुपारी और मारुड़ी माने जंगली घास।

वहाँ से भी चल दिए आप, बहुत दूर—मैसूर। वहाँ आपने सुना किसीका नाम है आड़ू, किसीका आने। आड़ू माने हैं बकरी और आने का माने है हाथी। वहाँ किसी-का नाम है अरसू, किसीका अट्टी। अरसू माने बरगद। अट्टी

वाले लोगों के पिछले इतिहास की खोज करने का यही उपाय है कि पीछे पड़े रह जाने वालों की जानकारी हासिल की जाए।

एक बात और भी है। असभ्य अवस्था को पारकर सभ्य हो उठने के बाद भी बहुत दिनों तक मनुष्य असभ्य अतीत की आदतों को पूरी तरह छोड़ नहीं सका। सभ्य मनुष्यों की धारणाओं और विश्वासों में आदिम युग के तरह-तरह के विश्वास टिके रह गए है। इसीलिए खासतौर से सभ्यता की शुरुआत की बातों को ठीक-ठीक जानने के लिए असभ्य अवस्था का हाल जानना जरूरी है।

बाज पंछी से देवता

पुराने मिस्र की ही मिसाल लें।

पुराने जमाने के देवी-देवताओं की शकल-सूरत देखिए, ऐसा लगेगा कि हम कोई अजीब चिड़ियाखाना देख रहे हैं। किसी देवता की शकल हुबहू साँप जैसी है या पशु-पंछी-जैसी। कोई आधा जानवर आधा आदमी जैसा है।

तो एक बार हम मिस्र ही घूम आएँ। अपनी आँखों देख लें, उन देवी-देवताओं के चेहरे।

चार हजार साल पहले की कोई कब्र है या मन्दिर है। वहाँ किसी तसवीर में आपने देखा एक हरिन-जैसा जानवर है और उसकी पीठ पर सवार है एक बाज। आपके मुँह से निकल पड़ा—वाह, क्या मजा है बाज को—हरिन पर चढ़कर सैर को निकल पड़ा है।

मगर आप कहीं चार हज़ार साल पहले के मिस्र के बालक

माने गूलर।

इस तरह अगर आप भारत के इस छोर से उस छोर त घूम आएँ, तो देखेंगे कि अपने यहाँ भी पशु-पक्षी और पेड़ पौधों पर नाम रखने का हिसाब कुछ कम नहीं। साथ ही य भी पाएँगे कि नाम के साथ-साथ वे मुमानियत भी हैं—खा की मनाही, ब्याह की मनाही।

एक बात और भी गौर करने की है। हमारे यहाँ के सर्भ लोग समान सभ्य तो नहीं हैं। यहाँ-वहाँ बहुतेरे आदिवासी हैं वे अभी बहुत पीछे पड़े हुए हैं। उन्हीं में इस तरह के विश्वार ज्यादा साफ दीख पड़ते हैं। मगर आपके-हमारे मन से भी ऐसे विश्वास एकबारगी घुल नहीं गए हैं। जैसे हमारे गोत्र। यानी यह कहें कि आदिवासियों के विश्वास के टूटे-फूटे चिह्न आज भी हम लोगों में मौजूद हैं।

टोटेम और टाबू

चिह्न जब यहीं मौजूद हैं, तो इतनी दूर आस्ट्रेलिया जा को जरूरत क्या? जरूरत है। वहीं के असभ्य आदिवासियों में इस तरह की धारणाओं का आदि और बनावट विहीन रूप ज्यादा मिलता है। इसलिए हमारे यहाँ जो बातें धुंधली-सी हो आई हैं, उन्हें साफ-साफ समझने के लिए एक बार वहाँ का चक्कर काट आना अच्छा है। उनमें ये धारणाएँ अब भी उसी रूप में टिकी हुई हैं।

अब जो मसला सामने है, वह है नामकरण का। आस्ट्रे- लिया के आदिवासियों से ही पूछताछ करें।

वहाँ ओजिबोवा नाम की एक जाति के लोग हैं। उनकी भाषा में यह टोटेम कहाता है।

टोटेम के क्या मानी? मनुष्य के किसी गिरोह ने जिस जन्तु या पेड़ से सम्बन्धित अपने को माना है, वही जन्तु या वही पेड़ उस दल का टोटेम है। शायद टोटेम से ही दल के सभी लोगों का जन्म हुआ है।

जैसे, हम सूरजमुखी फूल हैं। यानी सूरजमुखी फूल से ही हमारे दल की पैदाइश हुई है।

हम काश्यप गोत्र के हैं। यानी? यानी कभी हम भी—हम भी अर्थात हमारे पुरखे—वैसी ही आदिम और असभ्य अवस्था में थे और तब कछुआ ही हमारे दल का टोटेम था।

इस टोटेम-विश्वास के साथ निषेध का कुछ-कुछ सम्बन्ध है। जो आपके दल का टोटेम है, उसे खाने की आपको मनाही है। उसी टोटेम वालों के यहाँ आपके गिरोह के लोगों का शादी-व्याह नहीं हो सकता। आखिर क्यों? इस क्यों का प्रश्न ही कोई नहीं उठा सकता। मनाही है, बस, इतना ही। इसके सिवा कुछ नहीं।

ओजिबोवा लोगों में ऐसी धारणाओं का नाम है टाबू। तो इस तरह उनसे हमें जानने को दो नाम मिले—टोटेम और टाबू।

हम सत्य की खोज करने वाले मनुष्य की चर्चा करने बैठे हैं। चर्चा करने बैठे हैं उस कहानी की कि युग-युग से मनुष्य ने क्या-क्या सोचा-विचारा है, दुनिया को किस तरह पहचानने की कोशिश की है। इस चर्चा के लिए तो हमें ज्ञानियों की

ाणी से ही आरम्भ करना चाहिए। आदिम और असभ्य लोगों के दिमाग में क्या-क्या खुराफात थे, यह जानकर हमें क्या लाभ होगा ?

इसका लाभ है। आदिम मनुष्यों के विश्वास कैसे-कैसे थे, इन्हें अगर हम ठीक-ठीक समझ न लें, तो सत्य की खोज करने वाले मनुष्य की कहानी का अन्दाज़ करना भी मुश्किल है।

माना कि आज के आदमी बहुत सभ्य हो गए हैं। आज के लोग बहुत-सी बातें जान गए हैं, बहुत अच्छी तरह से सोचना सीख गए हैं—यह भी माना। मगर इतना कुछ तो रातों-रात नहीं हो गया। युग-युग से कोशिश करते-करते कहीं आज वह इतना उन्नत हो सका है। आज बेशक वह पंडित और बड़ा बन सका है, मगर एक समय था कि वह नन्हा नादान था। वह आदिम और असभ्य अवस्था मनुष्य का बचपन ही था।

बहुत-बहुत पहले हमारे पुरखे किस तरह जीते थे, क्या सोचते थे, क्या विश्वास रखते थे—इन बातों को जानने का एक तरकीब यह है कि उन असभ्य और आदिम लोगों में एक बार घूम लिया जाए, जो आज भी टिके हुए हैं। उन्हें देखा जाए कि वे किस तरह जी रहे हैं, क्या सोच रहे हैं, कैसे-कैसे विश्वास रखते हैं।

थोड़े में यों कहें, संसार के सभी लोग एक साथ समान उन्नत नहीं हुए हैं। कोई-कोई तो बहुत आगे निकल गए हैं, कोई-कोई आज भी बहुत पीछे रह गए हैं। इन आगे बढ़ जाने

ोगों के पिछले इतिहास की खोज करने का यही उपाय
ीछे पड़े रह जाने वालों की जानकारी हासिल की जाए।
 बात और भी है। असभ्य अवस्था को पारकर सभ्य
 के बाद भी बहुत दिनो तक मनुष्य असभ्य अतीत की
को पूरी तरह छोड़ नहीं सका। सभ्य मनुष्यों की
ों और विश्वासों में आदिम युग के तरह-तरह के
 टिके रह गए है। इसीलिए खासतौर से सभ्यता की
की बातों को ठीक-ठीक जानने के लिए असभ्य अवस्था
 जानना ज़रूरी है।

ो से देवता

ने मिस्र की ही मिसाल लें।

ने ज़माने के देवी-देवताओं की शकल-सूरत देखिए,
ा कि हम कोई अजीब चिड़ियाखाना देख रहे है।
ता की शकल हुबहू सांप जैसी है या पशु-पंछी-जैसी।
 ा जानवर आधा आदमी जैसा है।

क बार हम मिस्र ही घूम आएँ। अपनी आँखों देख
वी-देवताओं के चेहरे।

हज़ार साल पहले की कोई कब्र है या मन्दिर है।
तसवीर में आपने देखा एक हरिन-जैसा जानवर है
ो पीठ पर सवार है एक बाज़। आपके मुंह से निकल
, क्या मजा है बाज़ को—हरिन पर चढ़कर सैर
पड़ा है।

आप कहीं चार हज़ार साल पहले के मिस्र के बालक

होते और मैं होता कहीं आपका कोई गुरुजन, तो हम आपस में क्या कहते-कहाते ?

मैं कहता, मुन्ने इन्हें दंडवत करो, ये होरस देवता हैं। इनकी तेज़ी देख रहे हो ? हरिन-जैसे देखने में जो हैं, वे देवता को इन्होंने जीत लिया है, वश में कर लिया है, अपना वाहन बना लिया है।

मतलब यह कि वह बाज़ कोई चिड़िया नहीं, देवता की मूर्ति है। और आप झुककर उन्हें प्रणाम करते, मैं भी करता।

कहीं दूसरी जगह आपकी नज़र पड़ती तीन अजीबोगरीब जानवरों पर। पांत बांधकर चले जा रहे हैं। उनकी शकल कुछ ऐसी कि हँसते-हँसते आपका बुरा हाल हो जाता। मगर आप चार हज़ार साल पहले के मिस्र के कोई होते ? तो आप धूल में लम्बे पड़कर उन्हें प्रणाम करते। कहते, देवता, मुझ पर दया करो।

इससे यह समझिए कि संसार की पहली सभ्यता जहाँ पनपी, वहाँ के लोगों के खयाल में देवताओं की शकल कैसी अजीबोगरीब थी !

इस पर से यह सवाल उठता है कि तब के लोगों ने देवी-देवता के लिए ऐसे अजीब-अजीब चेहरों की कल्पना आखिर क्यों की ? यह जानने के लिए सोच देखना होगा कि पुराने ज़माने में सभ्यता ठीक-ठीक कैसे पनपी।

उस समय तक संसार में कहीं भी मनुष्य सभ्य नहीं हुए थे। जीविका जुटाने के लिए असभ्य लोगों की जमात भारी चलती थी।

इधर नील नदी के दोनों किनारों में दूर तक उपजाऊ

जमीन फैली थी। गजब की उपजाऊ, न भी कुछ करो तो सोने की फसल लगे। ऐसी जमीन। असभ्य लोगों की भटकने वाली जमातों को तमाम से उस जमीन की खबर मिलने लगी। वे जहाँ-तहाँ से आकर नील नदी के किनारे अड्डा गाड़ने लगे। वे आदिम और असभ्य दशा में थे—सो हर तरह के टोटेम-दल के लोग थे—एक-एक गिरोह के लोगों ने अपने को एक-एक जीव-जन्तु से जोड़ रखा था। लिहाजा अलग-अलग जमात का परिचय अलग-अलग जीव से मिलता।

यहाँ बाज का घोंसला है, तो वहाँ स्यार की माँद और वहाँ गाय-गोरू का अड्डा। इसके मानी यह कि यहाँ ऐसे गिरोह के लोगों ने डेरा डाला, जिनके दल का टोटेम बाज था, वहाँ उन लोगों ने अड्डा गाड़ा, जिनका टोटेम स्यार था और वहाँ उस जमात के लोग बसे, जिनका टोटेम रहा गोरू।

अगर यह बात तसवीर बनाकर बतानी पड़े तो? तो यह बनाना पड़ेगा कि नील नदी के दोनों तट पर तरह-तरह के जानवरों ने अड्डा जमाना शुरू किया।

ये जानवर आरम्भ मे ही लेकिन देवता नही बन बैठे। पहले ये बने दल या गिरोह के टोटेम। टोटेम और देवता—दोनों में बहुत फर्क है। देवता के चरणो मे लोग सिर नवाते, मन्नत मानते कि उनकी दया से मनोकामना पूरी होगी। लेकिन जिस जमात का टोटेम हुआ सूरजमुखी फूल, उस दल के सब लोग यही कहते कि हम सूरजमुखी फूल हैं। गरज कि उनके खयाल में टोटेम और आदमी एकबारगी एक हैं। इसलिए ऐसा कहे तो कोई मतलब ही नही निकले कि लोग टोटेम के

[illegible] टोटम की मन्नत मानते हैं।

असल में टोटेम-दल में हर आदमी बराबर था। राजा-प्रजा का कोई भेद नहीं, अमीर-गरीब का कोई फर्क नहीं था। सो उस समय तक सिर नवाने की महिमा ही उन्हें मालूम न थी। बड़ों के पास गरीब हाथ फैलाए तो भीख मिल सकती है। मगर जब बड़े-छोटे का कोई भेद ही नहीं रहा हो, तब? तब आदमी के दिमाग में भीख माँगने की बात ही नहीं उठ सकती। राजा के पैरों कोई पड़ जाए, तो उनके जी में दया उपज सकती है। मगर तब जबकि राजा-प्रजा का भेद ही नहीं पैदा हुआ हो? तब पैरों पड़कर करुणा बटोरने का सवाल ही नहीं आता।

इसीलिए आदिम युग के लोगों के मन का विश्वास एक-तरफी जुदा ढंग का था। ठीक कैसा था यह विश्वास, सो बाद ें बताएँगे। अभी तो देवताओं के जन्म की बात चल रही । जब आदिम टोटेम-दल टूटकर अमीर-गरीब का भेद पैदा ने लगा, पैदा होने लगा राजा-प्रजा का भेद तभी केवल मनुष्य मन में पूजा-पाठ, माथा नवाना और मन्नत मानना-जैसा श्वास पैदा होना मुमकिन था।

प्राचीन मिस्र के इतिहास में यह बात स्पष्ट है। वहाँ के हास में इस बात का पता चलता है कि कैसे आदिम टोटेम टूटा और राजा-प्रजा का भेद प्रकट हुआ। उसी समय टेम के बदले देवता का कैसे जन्म हुआ।

ीन मिस्र के सबसे पहले जो एकछत्र राजा हुए, उनका नेस्। उनके एकछत्र राजा बन बैठने का वर्णन उस

समय की भाषा में कैसा होगा ? हिन्दी में उसका तर्जुमा करें तो वह होगा—सारे जानवरों को बाज निगल बैठा ! यो लगता है; यह वर्णन कैसा तो है। मगर चूँकि आपने टोटेम के रहस्य को जान लिया है, इसलिए आपको यह अनहोना नहीं लगेगा।

मान लीजिए, आदिम मनुष्यों की दस जमातें थीं। दसों के दस टोटेम तो रहे ही होंगे। यानी दस जमातों की कहानी दस जानवरों की कहानी होगी। उन दस दलों में से एक का टोटेम था बाज़। अब सोच देखिये, उस बाज़वाले दल ने अगर बाकी दलों को हटा दिया और आप सबका मालिक बन बैठा, तो उसका वर्णन कैसा होगा ? वह वर्णन ऐसा ही होगा कि सारे जानवरों को बाज निगल बैठा।

आरम्भ में मिस्र में ऐसा ही एक वाकिया गुजरा था। नील नदी के किनारे बहुत-से टोटेम दल वालों ने अपना अड्डा गाड़ा था। अलग-अलग दल का परिचय अलग-अलग जन्तु का चिह्न था। इन दलों की आपस की लड़ाई की तसवीर बने तो कैसी होगी ? होगी कि बहुत तरह के जीव-जन्तु आपस में मार-काट कर रहे हैं। इस तरह के अनगिनत चित्र मिस्र के खडहरों में पाए जाते हैं। वे चित्र हैं किस युग के ? मेनेस जब राजा हुए, तब से पहले के युग के।

उन तसवीरों में एक बात साफ झलकती है कि धीरे-धीरे बाज लड़ाइयों में जीतता चला जा रहा है। इसका मतलब क्या हुआ ? यही कि जिन अलग-अलग टोटेम दल के लोगों में लड़ाइयाँ हुई थीं उनमें से बाजवाले दल की जीत होती गई।

बाजवाले दल का मुखिया था मेनेस्। इसीलिए मिस्र के

को निगलता जाता है, त्यों-त्यों पूरे दल की शक्ति, पूरे दल की पूँजी एक आदमी के हाथों सिमटती चली जाती है।

कहने का मतलब कि आदिम टोटेम दल टूट गया।

राजा सामने आए।

राजा के साथ-साथ देवता भी पैदा हुए। सबसे मजे की बात यही है।

बाज बाजवाले दल का टोटेम था। लेकिन बाज-दल टूटकर मेनेस् का प्रताप जैसे-जैसे बढ़ता गया, वैसे-ही-वैसे बाज यह आदिम टोटेम नहीं रहा—वह देवता होता गया। उसी का नाम पड़ा होरस।

देवता होरस का जन्म तो हुआ, मगर उसके चेहरे पर से बाज का चिह्न न मिट सका। उसका चेहरा बाज-जैसा ही रह गया।

तो सार यह निकला कि देवता और राजा के जन्म की कहानी जुदा नहीं। कम-से-कम प्राचीन मिस्र की बाबत तो यह बात इतनी साफ है कि नजर न पड़ना ही एक अचरज होगा। बाज-टोटेम से देवता होरस का जन्म हुआ। और बाज-दल की समता की ज़िन्दगी जाकर राज-शक्ति पैदा हुई। राजा का नाम हुआ मेनेस्। इसी के साथ जुड़ा रहा और एक विश्वास। राजा मेनेस् और देवता होरस, वास्तव मे उतने भिन्न नहीं हैं। दोनों मानो एक ही नई शक्ति के दो रुख हों।

होरस से मेनेस् का सम्बन्ध बड़ा गहरा है।

बाज राजा मेनेस् के लिए ढेरों दास जुटा लाता। राजा

मेनेस् में होरस की शक्ति फूट उठी थी। प्राचीन मिस्र में राजा और देवता में गले-गले मेल था।

प्राचीन मिस्र के इतिहास की इस जानकारी से यह जरूरत हो आई कि अपने देश के पुराने जमाने की बात को भी नए ढंग से सोचें। क्योंकि अपने यहाँ जो ये तेतीस करोड़ देवी-देवता हैं, उनमें से भी बहुतों के चेहरे में जीव-जन्तु के चिह्न हैं। आखिर ये चिह्न कहाँ से आए? ये आए है उसी आदिम काल के टोटेम-विश्वास से। गणेशजी का सिर हाथी का क्यों हुआ या लक्ष्मी का वाहन उल्लू क्यों बना—इस तरह के सवाल इसके पहले कभी आपने उठाए हैं? जब-जब आपको टोटेम-विश्वास की बात मालूम हुई, मिस्र के पुराने इतिहास की जानकारी हो गई, तो ऐसे प्रश्न उठाए बिना उपाय ही नहीं रहा। दूसरी बात, अपने यहाँ की पुरानी पोथियों को पलट देखिए, तो उनमें जीव-जन्तु के नाम भरे पड़े हैं। ऐसे नामों का मकसद क्या है, यह सोचना जरूरी है।

अभी-अभी हम कह चुके हैं कि जब तक टोटेम-दल कायम रहे यानी दल के सब आदमी एक-से माने जाते रहे, तब तक मनुष्य को पूजा करना नहीं आया, प्रार्थना करना नहीं आया, उसने देवता के पैरों माथा पटकना न जाना, न जाना मन्नत मानना। मतलब यह कि उस समय तक धर्म नाम की कोई चीज मनुष्य के दिमाग में आई ही नहीं थी। जब देवता ही का जन्म नहीं हुआ था, तो धर्म-विश्वास कहाँ से आता?

आखिर इसका सबूत? इसके दो सबूत पेश किये जा सकते हैं। एक तो यह कि आज भी असभ्य मनुष्यों के किसी-

यह चित्र पुराने पत्थर युग का है आदमी हरिन बनकर नाच रहा है। कहीं उनसे पूछा जाता कि भैया, तुम्हारी ऐसी सजावट क्यों ? तो वे निश्चय यही बताते कि हम लोग सब हरिन हैं। हरिन हैं के माने ? माने हैं आदि युग का टोटेम-विश्वास। यही टोटेम-विश्वास जब टूटा, तो धर्म का जन्म हुआ।

प्रागैतिहासिक गुफाचित्र

ये फिर कौन हैं ? अनहोनी शकल के इन जानवरों को देख हँसी जरूर आ रही होगी । लेकिन आप कहीं चार हजार साल पहले के मिस्र के बालक होते तो ? तो झुक-झुककर इन्हीं को प्रणाम करते । कहते—नमो नमः । देवी-देवताओं की शकल जीव-जंतुओं जैसी क्यों है ? क्योंकि देवताओं की धारणा हो जाने पर भी समाज में टोटेम-विश्वास का असर रह गया था। इसीलिए देवताओं की शकल में उसकी छाप मिलती है ।

ये हैं होरस देवता। इन्होंने हरिन-से देखने में दूसरे देवता को वश में करके अपना वाहन बना लिया है।

नीचे की तसवीर में जो देवता हैं, इन्हें प्राचीन मिस्र की भगवती कहें क्या? इनका असली नाम नुइट है। चेहरे से ही समझ लेंगे कि गाय-टोटेम से इनका जन्म है।

ये फिर कौन हैं ? अनहोनी शकल के इन जानवरों को देख हँसी जरूर आ रही होगी। लेकिन आप कहीं चार हजार साल पहले के मिस्र के बालक होते तो ? तो झुक-झुककर इन्हीं को प्रणाम करते। कहते—नमो नमः। देवी-देवताओं की शक्ल जीव-जंतुओं जैसी क्यों है ? क्योंकि देवताओं की धारणा हो आने पर भी समाज मे टोटेम-विश्वास का असर रह गया था। इसीलिए देवताओं की शकल में उसकी छाप मिलती है।

ये हैं होरस देवता। इन्होंने हरिन-से देखने में दूसरे देवता को वश में करके अपना वाहन बना लिया है।

नीचे की तसवीर में जो देवता हैं, इन्हें प्राचीन मिस्र की भगवती कहें क्या? इनका असली नाम नुइट है। चेहरे से ही समझ लेंगे कि गाय-टोटेम से इनका जन्म है।
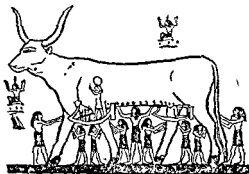
ये देवता सिद् हैं? युद्ध में जा रहे हैं। प्राचीन मिस्र में इनकी खासी धूम थी। मगर इनका चेहरा स्यार-जैसा क्यों? इनका जन्म किस टोटेम से हुआ होगा? नीचे के चित्र में राजा सुटी मोनू अपनी आत्मा को गोद में लिये बैठे हैं। आत्मा की शकल चिड़िया-जैसी क्यों? चिड़िया-टोटेम से ऐसी कल्पना आई।

यह प्राचीन मिस्र के पेड़ देवता की तसवीर है। पेड़-टोटेम से पेड़-देवता का जन्म हुआ?
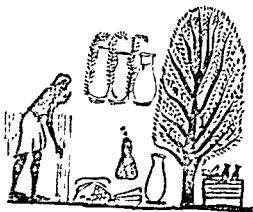
सो पंछी है, न स्यार। मरे हुए राजा की कब्र में दो
हाजिर हुए हैं। प्राचीन मिस्र की इन कल्पनाओं
कर देवता के जन्म के बारे में कुछ बातें सीख ली
और अपने यहाँ का क्या रवैया है ?

में

जानवर और पेड़-पौधे—दो तरह के टोटेम से ? देवता का जन्म हुआ है ! यह प्राचीन मिस्र ? नहीं, प्राचीन मेसोपोटामिया का देवता है ।

तो सिर्फ मिस्र में ही क्यों, प्राचीन असीरिया का भी यही हाल है । दाहिने जो तसवीर है, उसे देखिए । यह बाघ नहीं, स्वयं भगवान हैं । इनका जन्म किस टोटेम से हुआ ?

बाईं तरफ भी असीरिया के ही एक देवता हैं । धड़ साँड का, पीठ पर पंछी के पर, चेहरा लेकिन राजा-जैसा । इसमें देवता से राजा का सम्बन्ध साफ निखर आया है ।
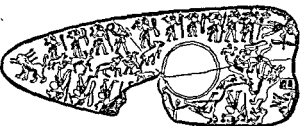
देवता और राजा। ऊपर के चित्र में राजा मेनेस् शिकार को निकले हैं। साथ वालों के हाथ में जो पताकाएँ हैं, उनमें जीव-जंतुओं के चिह्न हैं। इसका मतलब यह कि उन-उन दल के लोगों ने या तो राजा मेनेस् की अधीनता कबूल कर ली है या उनकी तरफ मिल गए हैं। मेनेस् का अपना टोटेम क्या था? बाज। नीचे के चित्र में देखें, बाज राजा को देने के लिए गुलाम पकड़ लाया है। बाज से देवता होरस का जन्म हुआ और बाज-टोटेम टूटकर राजा मेनेस् का सितारा बुलन्द हुआ। मगर बात यहीं खत्म नहीं होती। राजा मेनेस् और देवता होरस अंत में एक हो गए।

राजा मेनेस् दिग्विजय को निकले हैं। साथ में बहुत सारे दल के लोग। उनकी पताका से पता चलता है, कौन किस टोटेम-दल के हैं। दाहिनी ओर दुश्मन का कटा हुआ माथा है। दुश्मन कौन-कौन से टोटेम-दल के हैं, चित्र से यह भी जाना जा सकता है।

ती व्यवहार में इसकी निशानी बच रही है। दूसरे कि आज
जो लोग ;आदिम असभ्य अवस्था में रह गये हैं, उनके
वासों को टटोलकर देखा जाय, तो पता चलता है कि उनसे
विश्वास का कोई मेल नहीं है।

क्या होते हैं ?

हमारे देश में गाँव-घर में औरतें व्रत करती है। ये व्रत
र होते क्या हैं ?

ज़रा अच्छी तरह गौर करने से पता चलेगा कि प्रत्येक
किसी-न-किसी कामना का सम्बन्ध है। फलाँ चीज़
, इसी के लिए व्रत। व्रतों की यही मुख्य बात होती है।
सलन छठ व्रत की बात लीजिये। इस व्रत के पीछे
ी कामना है ? यही कि बाल-बच्चों का कल्याण हो।
में एक व्रत होता है भादुली। इस व्रत में यही कामना
है कि जो अपने सगे बाहर हैं, वे सकुशल घर लौट आएँ।
ाल में इस व्रत के समय आलपना आँकी जाती है—
ह की तसवीरें बनाई जाती है—नदी की, समुद्र की,
वन की, खूँखार जानवरों की और भी जाने किस-
!

बनाकर उसपर फूल रखकर औरतें गीत गाती
गीतों में उनकी कामनाएँ कही जाती हैं।
तो जैसा होता है, होता है। मगर इसके अन्दर
त क्या है ?

शायद यह सोचें कि इसमें बात भी क्या होगी ?
न में

देवता की पूजा होती है, फूल चढ़ाए जाते हैं। इससे देवता प्रसन्न होंगे, विदेश गए हुए अपने-सगे सानन्द घर वापस आएँगे। और क्या ?

लेकिन जो व्रत को सही-सही समझते हैं, वे आपकी बातों में हामी नही भर सकते ! क्योंकि वे खूब जानते हैं कि व्रत और पूजा में आसमान-जमीन का अन्तर है।

पूजा के क्या मानी हैं ? पूजा के मानी हैं ठाकुर के चरणों में फूल चढ़ाकर उनमें अपने लिये दया उपजाना। यह कि ठाकुर खुश हों और हमारी मनोकामना पूरी करें।

लेकिन व्रत का बिलकुल यह मतलब नहीं है। व्रत में करुणा की भीख माँगने की जरा भी कोशिश नहीं होती। बल्कि उनमें जबर्दस्ती का ही भाव है। जैसे, नदी को आलपना में आंका, उस पर फूल चढ़ाए और गीत गाकर अपनी कामना कही। ऐसा करने का लेकिन यह मतलब हर्गिज नहीं होता कि हमारे ऐसा करने से नदी के मन में दया उपजेगी। बल्कि भाव यह होता है कि नदी उस कामना को मानने को मजबूर है। आलपना, फूल और गीत से नदी को वश में लाया गया है।

व्रत में कामना पूरण के लिये दया की भीख माँगने का भाव नहीं होता। ऐसा होता तो व्रत और पूजा में कोई फर्क ही नही होता।

व्रत और पूजा के फूल एक नही होते। व्रत में फूल मानो गवाह होते हैं। नदी को आंककर हमने जो वश में किया, इसके गवाह फूल हैं। वसुधारा व्रत में यह बात साफ हो

आती है। उसमें जो गीत गाया जाता है, उसका भावार्थ है—

> आठ वसु, आठ तारा, तुम गवाह रहे,
> हमने आठों दिशाओं में आठ फूल रखे है।
> आठ वसु, आठ तारा, तुम गवाह रहे,
> हमने आठों दिशाओं में आठ फूल रखे हैं।

व्रत और पूजा में भेद

देवता के चरणों फूल चढ़ाने में इस तरह गवाह रखने की बात ही नहीं उठती। इसलिए कि फूल चढ़ाने से ही तो ठाकुर हमारी बात रखने को मजबूर नहीं है। गवाह की बात केवल तभी उठ सकती है जबकि वैसी मजबूरी की बात हो। मसलन हमारे-आपके बीच फलां बात तै पाई और आप उसके मुताबिक हमारा अमुक काम कर देने को मजबूर है—फलां आदमी इसके गवाह हैं। लेकिन जहाँ भीख मांगती है, दया का दान मांगना है, वहाँ गवाह का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? इसीलिए देवता की पूजा के समय गवाह रखने का कोई मतलब नहीं होता। अगर देवता की दया होगी, तो वे हमारी मनोकामना पूरी करेंगे। यहाँ बल नहीं है, याचना है। पैरों पड़ना है। हम गवाह हजार क्यों न रखें, ठाकुर हम पर दया करने को बाध्य नहीं हो सकते।

इस पर श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने बड़े सुन्दर विचार उदाहरण के साथ जाहिर किये हैं। उन्होंने लिखा है, व्रत में फूल रखना और पूजा में फूल चढाना, दोनों में भेद है।

उन्होंने एक मिसाल दी है—जैसे कि दास्य का व्रत है।

इस व्रत में हम पाते हैं कि लोग काफी फसल की कामना करते हैं : लेकिन ऐसा नहीं कि उस कामना की पूर्ति के लिए हाथ बाँधकर किसी देवता के आगे 'दो-दो' की रट लगाते हों। बल्कि इसके लिए वे जो क्रिया करते हैं, उसमें सचमुच ही फसल फलती है और फसल लगने का यह आनन्द उनके नाच-गान में ज़ाहिर होता है। बर्दवान के इलाके की औरतें शस्य का यह व्रत करती हैं। इस व्रत को भाँजो कहते हैं। भादों की मंथनषष्ठी से शुरू करके यह व्रत सुदी द्वादशी तक चलता है। पंचमी के दिन मटर, मूँग, अरहर, उड़द और चना, इन पाँच चीजों को किसी बर्तन में भिगोकर रखा जाता है। दूसरे दिन इन शस्यों में से कुछ को पूजा में नैवेद्य देकर बाकी को मिट्टी के एक नए ढकने में रखा जाता है। द्वादशी तक रोज़ स्त्रियाँ नहा-धोकर उसमें पानी डाला करती हैं। चार-पाँच दिन में अगर काफ़ी अंकुर उग आते हैं, तो माना जाता है कि इस साल काफी उपज होगी। तब स्त्रियाँ उत्सव मनाती हैं। यह उत्सव इन्द्र-द्वादशी को होता है। खुली चाँदनी में, खुले आँगन में यह मनाया जाता है। एक लीपी-पोती वेदी पर आलपना आँकी जाती है। उसमें इन्द्र का वज्र-चिह्न बनाया जाता है। कहीं-कहीं माटी से इन्द्र की मूरत भी बनाई जाती है। मुहल्ले की सभी स्त्रियाँ अपने-अपने अंकुर वाले ढक्कन को लाकर उस वेदी के चारों ओर रखती हैं और आपस में एक-दूसरे का हाथ पकड़कर नाचती-गाती हैं। बाद में दो दलों में बँट जाती हैं और तमाम रात यह नाच-गीत चलता रहता है।

विश्वास है, यह नाच जितना ही जमता जाएगा, भाँजो

हा खिलती जाएगी। मटर, मूंग, अरहर, उड़द और
बीज से अंकुर, अंकुर से पौधे लहलहा उठेंगे और इस
मना पूरी होगी—काफी फसल लगेगी।
, इस व्रत में कामना पूरी कराने की यह जो कोशिश
पूजा-पाठ की बू-बास नहीं है। प्रार्थना या उपासना
इसमें नहीं है।
और पूजा में आकाश-पाताल का फर्क है।

त, काम

स व्रत का जो रवैया देखा, उससे एक नया ही
मने आया। खिली चाँदनी में औरतों का गीत-नाच।
ा खयाल है, इससे भौंजी खिलखिला पड़ेगी। यानी
ौधे लहलहा उठेंगे, फसल काफी होगी।
र यह किस तरह का विश्वास है ? हम तो इतना
है कि आदमी मनोरंजन के लिए ही नाचते-गाते हैं,
ते हैं। इन सबसे फसल का क्या सम्बन्ध है ?
हमारी जैसी धारणा है, उससे इस बात का मर्म
नहीं जाना जा सकता।
रए, फिर एक बार विदेश की यात्रा करें। घूम-
ें कि किसी और देश के लोगों के विश्वास से
औरतों के इस व्रत को समझा जा सकता है या

प मेक्सिको जा पहुँचें, तो वहाँ एक जाति के
की मुलाकात होगी। इन लोगों का सारा हमारे

कहते हैं। उनकी बातें सुनकर आप दंग रह जाएंगे। क्योंकि उनकी भाषा में 'नाच' और 'काम' में कोई भेद नहीं है। वे कहते हैं 'नोलावोइ'—इसका मतलब दोनों है, नाचना और काम करना।

जमात के बड़े-बूढ़े नौजवानों को कहते हैं, नाच में शामिल न होकर चुप क्यों बैठे हो? हमारे यहाँ के बड़े-बूढ़े इसी को यों कहते हैं—काम-धन्धा नहीं करते, अलसाये क्यों हो?

बालक बढ़कर युवक होते हैं, युवक बढ़कर बूढ़े होते हैं। हम इसको क्या कहते हैं? कहते हैं, उमर बढ़ रही है। मगर वे इसको क्या कहते हैं, जानते हैं आप? वे कहते हैं नाच बढ़ रहा है या नाच की तादाद बढ़ रही है। और जिसकी नाच की संख्या जितनी ही ज्यादा होती है, समाज में उसकी खातिर भी उतनी ही ज्यादा होती है। उमर के हिसाब से जब बूढ़े लाचार होते हैं तो सिर ठोंककर कहने लगते हैं—जब नाच में ही शामिल नहीं हो पाता तो जीने से लाभ क्या? यानी नाच न सकना और काम न कर सकना—दोनों एक ही बात है! इससे साफ जाहिर होता है कि नाच उनके लिए निहायत मनोरंजन नहीं है। उससे काम-काज का सीधा संबंध है।

मेक्सिको से पहुँचे आप यूरोप। यूरोप आकर गए आस्ट्रिया या जर्मनी! वहाँ आपकी नजर आ पड़ी कि कुछ कोनिहर मन बुन रहे हैं। बुनते-बुनते वे नाचने लगे। और वह नाच भी कैसा गजब का नाच! इस कदर उछलते हैं मानो यह आदमी

रहे हों कि ऊपर को कितना ऊंचा उछला जा सकता है। आप उनसे पूछिये—भई, इस तरह नाच क्यों रहे हैं आप ? वे कहेंगे—यह भी नहीं जानते ? हम नाच में जितना ही ऊंचे उछलेंगे, सन उतना ही बढ़ेगा, लम्बा होगा।

तब आप पहुंचे मेसिडोनिया। वहां क्या देखते हैं कि मिट्टी गोड़कर बीज बोने के बाद खेतिहरों की जमात फावड़ा-नाच नाचने लगी। फावड़े को ऊपर उछालते हैं और लोक ते हैं। यह कैसा नाच है भला ? कुदाली उछालते और केते हैं। मामला क्या है ? वे कहेंगे, कुदाली जितना ही पर जाएगी, अनाज उतना ही बड़ा होगा, बालियां लम्बी गी :

मतलब यह निकला कि नाच का जो मतलब हम लगाते वे लोग वह नहीं लगाते। उनके खयाल में काम-काज से, वन से नाच का लगाव है। मगर इनमें और हममें जो आम ाल है, उसमें इतना ज्यादा फर्क है कि हम आसानी से झ ही नहीं सकते। इसलिए चलिए फिर आस्ट्रेलिया को चलें। वहां के आदिवासियों में आज भी यह धारणा खूब ट है। इसलिए इसका मूल छोर उन्हीं के पास मिलेगा।

बारिश बिलकुल नहीं हो रही। बारिश न हो तो सर्व-ा ! ऐसी दशा में असभ्य लोग क्या करेंगे ?

घर के किसी कोने में हाथ-पांव समेटे रोएंगे क्या ! हर्गिज । उसके बदले वे और कुछ करना चाहेंगे। क्या करेंगे ? श के किसी देवता के पैरों पड़कर विनती करेंगे कि हे ा, पानी बरसाओ, पानी बरसाओ ? नहीं।

असभ्य लोग बहुत बातें जानते ही नहीं। जैसे बारिश क्यों होती है, यह उन्हें नहीं मालूम। इसी तरह वे यह भी नहीं जानते कि पूजा किसे कहते हैं। हम लेकिन इतना जानते हैं कि वर्षा क्यों होती है। इसी जानने को विज्ञान कहते हैं। पूजा करना क्या होता है, हम यह भी जानते हैं। इसी का नाम है धर्म। वे न तो विज्ञान जानते हैं, न धर्म जानते हैं। उनके मन का जो विश्वास है वह विज्ञान भी नहीं है, धर्म भी नहीं है।

वे क्या करेंगे कि दल के सभी लोगों को बुलाकर कहेंगे—आओ, मिल-जुलकर वर्षा का नाच नाचें। यह वर्षा का नाच फिर कैसा होता है? सब लोग मिलकर ऊपर को पानी उछालते हैं। वर्षा की नकल उतारते हैं या नकली वर्षा करते हैं। उसी के साथ बादल गरजने की नकल करते हैं, शायद बिजली चमकने की भी। और भी जाने क्या-क्या! साथ-ही-साथ ताल-ताल पर नाच। उस नाच पर ज़रा गौर कीजिए। पाएंगे कि उसमें एक अजीब भाव है। वह भाव कुछ ऐसा है कि जो चाहते हैं, वह जैसे सचमुच ही मिल गया। बारिश के लिए ही यह नाच है। सो नाचते समय वे कुछ ऐसी भाव-भंगिमा दिखाएंगे, जैसे सचमुच ही आकाश में काले बादल उमड़ आए, गरजे, बिजली चमकी, पानी बरसा।

नाचते हुए वे यही सोचते हैं कि वर्षा पर हम विजयी हो गए। अब बारिश होकर ही रहेगी।

तो उनके मन की यह धारणा कैसी हुई? यही कि एक नकली वर्षा बनाकर या वर्षा के लक्षणों की नाच में नकल

उतारकर वे सोचते है कि हमने सचमुच ही बारिश पर फतह पा ली है।

मान लीजिए, उन्हें शिकार में जाना है। हरिन के शिकार में। तो वे क्या करेंगे कि हरिन की एक तसवीर बनाएँगे और उस तसवीर के हरिन को एक तीर चुभा देंगे। यानी हरिन-शिकार की पूरी नकल ही कर लेंगे। और वे समझ लेंगे कि इस तरह असली हरिन-शिकार के मसले को उन्होने सुलझा लिया है।

तसवीर बनाने के बदले वे दल बाधकर नाच भी सकते। और उनका वह नाच, बाप-रे-बाप! शिकारी की पोशाक पहनकर, हाथ में भाला और तीर-धनुष सम्भालकर नाच! सच पूछिए तो वह नाच पूरे शिकार की नकल ही है या उसे नकली शिकार कहिए। गारो या नागा जाति के लोगों का शिकार-नाच नही देखा है आपने?

शिकार की नकल आखिर क्यों? क्योंकि उनका यह विश्वास है कि ऐसे नकली शिकार की मदद से असली शिकार के मसले को बहुत-कुछ सुलझाया जा सकता है।

लड़ाई पर जाना है। उस लड़ाई में जीतने की इच्छा है। तो इस इच्छा से क्या वे देवता के चरणो में माथा टेककर आशीर्वाद माँगेगे? नहीं। उसके बदले युद्ध में जाने के पहले दल बाँधकर वे नाचना शुरू कर देंगे। उस नाच को देखिए—लगेगा घमासान लड़ाई छिड़ गई है और उसमे जीत हुई। इसी की नकल। कामना पूरी होने की नकल करने से ही कामना सचमुच पूरी होती है, ऐसा ही उनका विश्वास है।

ऐसे विश्वास को न तो विज्ञान कहा जा सकता है, न धर्म। विज्ञान इसलिए नहीं कि इसकी सब-कुछ तो कल्पना ही है। *वैज्ञानिक ज्ञान के हिसाब से यह एक अजीबोगरीब* बात है। और यह धर्म इसलिए नहीं है कि इससे देवी-देवता और पूजा-उपासना का कोई सम्बन्ध नहीं है।

मन के ऐसे ही विश्वास को, जो न तो धर्म है, न विज्ञान—जादू कहा जाता है। अंगरेज़ी में इसे कहते हैं मैजिक। लेकिन मैजिक से यहां आंखों को अकचकाकर अनोखा चमत्कार दिखा देना नहीं है। बल्कि जादू का मतलब यहां मनुष्य का आदिम विश्वास है—नकल को जय करके असल को जीत लेने का विश्वास। हम जादू को इसी मतलब में काम में लाएंगे।

कहने का मतलब यह कि पुराने मनुष्य के लिए नाच, गान, तसवीर, पद्य—सब एक साथ जुड़े हैं। और उन सबके पीछे जो मूल बात है, वह है जीने की चेष्टा। काम-काज की प्रेरणा। ये सारी चीज़ें जिस विश्वास के चलते एक साथ गुंथ गई हैं, उसी का नाम जादू है।

दर असल, आज हमारे लिए जीने की समस्या बहुत हद तक सहज हो आई है। भूख लगे तो खा लेना, सरदी लगे तो गरम कपड़े पहन लेना, बारिश होने लगे तो घर के अन्दर जा रहना—यह सब-कुछ हम लोगों के लिए कितना आसान हो गया है! मगर पुराने लोग? बेचारे! निहायत भोथरे हथियारों से वे पृथिवी से जूझते रहे। उन्हें सहारा ही बहुत मामूली रहा। इसलिए किसी कदर जी लेना ही उनके लिए सबसे बड़ी समस्या थी। यही कोशिश सबसे बड़ी कोशिश

थी। यही कोशिश इसलिए सबसे ऊपर रही। उन्हें जानका
इतनी कम थी कि वे बिल्कुल नहीं जानते थे कि किस का
से क्या होता है। बरसात में उन्होंने मेघों का गरजना सु
और उससे यही समझा कि बारिश से मेघ के गरजने
सम्बन्ध है। उन्होंने सोचा, वर्षा के नाच के समय मेघ
गरजने की नकल उतार सकें, तो हो गया। उसीसे बारि
आएगी। इसीलिए मेघ-गरजने की वे नकल करते और सोचते-
वह वर्षा उतरी !

व्रत और जादू

कोजागरी पूर्णिमा को मेक्सिको की औरतें बाल बि
राती है इसलिए कि फसल ऐसी ही लम्बी और घनी लगे।

इसके पीछे भी आदिम-विश्वास है। जादू। नकल अ
असल का भेद साफ ज़ाहिर नहीं होता। नकल से असल
जीतने की कल्पना है।

जादू-विश्वास के इस रहस्य को समझ लेने के बाद व्र
का मतलब समझ में आ सकता है।

व्रत भी जादू-विश्वास के सिवाय और क्या है ? अ
चूँकि वह जादू है, इसलिए वह न तो पूजा है, न विज्ञान
पूजा व्रत तब होता, जब किसी देवता की दया से काम
पूरी करना चाहते। विज्ञान तब होता, जब काम करके प
णाम पाते। लेकिन जादू तो शुरू से आखिर तक कल्प
ही है, आदि से अन्त तक अजीबोग़रीब खयाल।

इसमें एक मज़े की बात है। जादू-विश्वास यदि शुरू से आखिर तक अजीबोगरीब है, कल्पना या ग़लत धारणा है, फिर भी इस जादू ने ही प्राचीन मनुष्यों को जीने में मदद पहुँचाई है।

सुनने में यह बात कैसी तो लगती है, मगर इसमें रहस्य बहुत हैं। उन पर ग़ौर करना चाहिए।

व्रतों की बात से चर्चा शुरू की थी—उसी का छोर पकड़कर इसे समझने की चेष्टा करें।

जो पुराने व्रत हैं, उनकी यह खासियत है कि वे अकेले नहीं मनाए जाते। बहुत लोगों को मिल-जुलकर मनाना पड़ता है। अवनींद्रनाथ ठाकुर ने लिखा है कि एक आदमी की कामना और उसे सफल करने की क्रिया व्रत नहीं कहलाती। व्रत के मूल में कामना होती है, उसे सफल करने की क्रिया होती है, मगर व्रत हम तब कहेंगे जब दस आदमी मिलकर किसी काम को एक ही उद्देश्य से करें। व्रत का आदर्श संक्षेप में यों है—एक की कामना दस में फैलकर एक अनुष्ठान बन गया है।

लेकिन वजह आखिर क्या है? अकेले किया जाए तो व्रत क्यों नहीं होता? एक साथ दस ही मिलकर व्रत क्यों किया जाता है?

कारण यह है कि असल में व्रत आज की चीज़ नहीं है। यह पुराने युग और समाज की बात है, जो आज भी हमारे यहाँ बच रही है। आदिकाल के लोगों में अकेले-अकेले

पुत्र की कामना करती हुई बंगाल की औरतें कहती है—हाथ में, बगल मे शिशु, अनेक पुत्र मिले, गोद भर गई—इसी बात को आलपना मे आँककर ऐसी कल्पना की गई कि सच ही पुत्र मिलेगा।

जोड़ा रोहू-मछलियों को आँककर कल्पना की गई है कि कामना पूरी होगी। जो पुराने व्रत हैं, उनके बारे में यह जान लेना ज़रूरी है कि पूजा या ठाकुर-देवता से उनका कोई लगाव नहीं है। व्रत धर्म नहीं है—इसके पीछे है जादू-विश्वास।
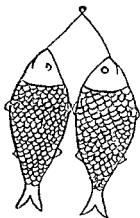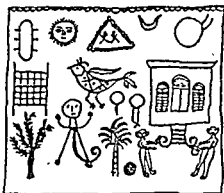
ऊपर एक व्रत की आलपना है, नीचे दूसरे व्रत की। इन व्रतों में कैसी कामना है? इनमें ठाकुर-देवता का कहीं कोई चिह्न है?
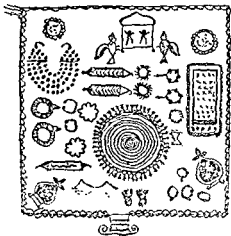
यह चित्र कपड़े-गहने की कामना का है। उसी कामना को आलपना में आँका गया है। इसमें लक्ष्मी-नारायण भी हैं—बाद के युग के लोगों की भावना है जो पहले ज़माने की गरदन पर लद गई है। नीचे मेक्सिको की आलपना है।

आलपना सिर्फ बंगाल में ही नहीं होती। ये आलपनाएं मेक्सिको की हैं। ऐसा नहीं लगता क्या कि पुरी के जगन्नाथ से इनका कहीं मेल अवश्य है ?
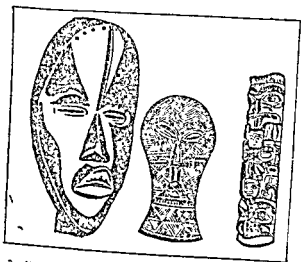
बीच में और बाईं ओर अफ्रीका के आदिवासियों के बनाए मुखड़े हैं। दाईं ओर घर की खुदाई के काम हैं। सवाल यह है कि ऐसी मूर्तियाँ बनाने का मतलब क्या है ? पूजा ? ठाकुर की मूर्ति बनाना ? नहीं। जिन पण्डितों ने आदिवासियों के मन को ठीक-ठीक पढ़ा है, उनका कहना है यह प्रेरणा जादू-विश्वास की है।
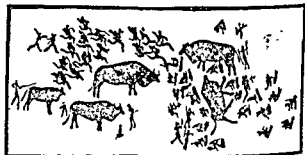
यह है शिकार को निकलने से पहले नाचकर या चित्र बनाकर सफल होने की नकल करना। शायद इससे असली शिकार का मसला आसान हो जाता था। ऊपर की तसवीर आस्ट्रेलिया के आदिवासियों की बनाई गई है। नीचे का चित्र मिस्र के एक पुराने मन्दिर की दीवार पर बना पाया गया है।

दल बांधकर ताल-ताल पर नाच। लेकिन क्यों ? जादू-विश्वास। जादू-विश्वास के माने न तो धर्म हैं, न विज्ञान। विज्ञान का कहना है, यथार्थ जगत के सही नियमों को ढूंढ निकालकर पृथ्वी को वास्तव में जीतना। धर्म कहता है, देवता की शरण लेनी है और यह जादू-विश्वास क्या कहता है ? शिकार की कामयाबी की नकल उतारो, कामयाबी जरूर मिलेगी। अनहोनी-सी बात है, मगर इसके बिना तब के लोगों का जिन्दा रहना ही मुहाल था।

जादू-विश्वास। यह विश्वास वास्तव में है कैसा? नकल को वश में करके असल को वश में करने की कल्पना। ऊपर के चित्र में यह कल्पना कितनी साफ़ है! यह चित्र कहाँ मिला? भारत की ही एक गुफा में। यह गुफा होशंगाबाद इलाके मे है।

जीने की चेष्टा नहीं की—की मिल-जुलकर जीने की कोशिश। इसलिए उनके लिए दल को छोड़कर अकेले की जिन्दगी का कोई मतलब ही नहीं था। दलवाली जिन्दगी ही उनकी असली ज़िन्दगी थी। दल के मानी एक, अखंड, सम्पूर्ण। यानी यह नहीं कि कहीं दस आदमी इकट्ठे हो गए। ऐसा होता तो अलग-अलग आदमी पर दवाव पड़ता। हमारे शरीर के पाँच अलग-अलग अंगों को एक जगह इकट्ठा कर देने से ही पूरा आदमी नहीं बन जाता। क्योंकि बड़ी बात है पूरा आदमी। अंग आदमी के ही अंग हैं। खास ध्यान उन अंगों पर नहीं, पूरे आदमी पर होता है। ठीक इसी तरह आदिकाल में मूल बात थी जमात—अलग-अलग आदमी नहीं।

व्रत को, जादू-विश्वास को समझने के लिए इस बात को खास तौर से याद रखना चाहिए—याद रखना चाहिए कि दस आदमी मिलकर साथ-साथ काम कर रहे हैं, एक ही काम कर रहे हैं, एक ही बात सोच रहे हैं।

उनकी आँखों में, एक की आँखों मे नहीं, कामना सफल होने की तसवीर झूलती है। एक नहीं, वे दस एक हो गए हैं। एक ही बात सोचते हैं, एक ही तसवीर देखते हैं। और इस तरह सारी जमात एक धुन में रँग उठती है। यह रँगना कोई ऐसी-वैसी बात थोड़े ही है

यह कहना फ़िजूल होगा कि जो तसवीर देखकर दल के लोग मतवारे हो उठते थे, वह तसवीर एड़ी से चोटी तक अनहोनी होती। वे जो कुछ भी सोचते सब काल्पनिक। शिकार की सफलता की नकल करने से हकीकत में वह मसला

कुछ सहज तो नहीं हो जाता फिर भी, कुछ सहज हो जाता है यही समझना होगा। कल्पना तो कोरी कल्पना ही है। लेकिन उसी कल्पना के भरोसे वे लोग जैसे उन्मत्त हो उठते थे, वह तो कल्पना नहीं। वे तो वास्तव में जोश से भर उठते थे। ऐसे जोश में जब वे शिकार को निकल पड़ते, तो उनके हथियार चाहे जितने ही कमज़ोर क्यों न होते हों, वे खुद बड़े खूंखार शिकारी बन जाते। और ऐसे में शिकार का मसला थोड़ा-बहुत सहज नहीं हो जाता है, क्या ?

या मान लीजिए, आसमान में बादल का नामोनिशान नहीं है। उन्हें अगर यही खयाल होता कि मेघ पर उनका ज़रा भी दखल नहीं—हज़ार सिर धुनें, पर आकाश में एक बूंद पानी भी वे नहीं ला सकते, तब तो मारे भय के उनका कलेजा बर्फ हो जाता।

अगर जीना है, तो मन में आशा-विश्वास को भी जिन्दा रखना है। जादू-विश्वास से ही उन्हें ऐसा आशा-विश्वास मिला था। कलेजे में साहस बटोरकर ही वे जिन्दा रह सके थे।

बंगाल की औरतें वसुधारा व्रत करती हैं। यह व्रत होता है जेठ के महीने में। जेठ में आसमान की हालत कैसी रहती है ? आग बरसती है, लू के गरम झोंके चलते हैं, धरती तवे-सी, नदी-नाले सूखे। और जब आसमान-ज़मीन की हालत ऐसी हो, तब अगर मन के विश्वास को भी सूखने नहीं देना है, तो अन्तर में आषाढ़ की सजलता को ज़रूर ही जिलाए रखना होगा। वसुधारा व्रत सजलता की उस तसवीर को
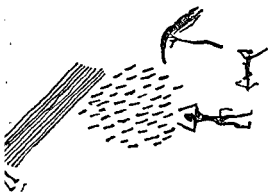
रिश के लिए जादू। आदिम लोगों का एक गुफा-चित्र

...खना चाहता है। जेठ महीने-भर यह व्रत चलता
। उस व्रत को गौर से टटोल देखिए, तो पाएंगे कि उसकी
ल्पना में पानी और पानी है—घने काले मेघ घिरे हैं—
धर देखिए, पानी लहरा रहा है, गीली माटी हरे शस्यों
अपूर्व हो उठी है।

दाईं ओर नाच और दाईं ओर
बारिश का जादू है—आदिम
लोगों के बनाए दो चित्र

यह कल्पना है बेशक—एड़ी-चोटी की कल्पना, यह भी क्या कहना पड़ेगा ? मगर ऐसी हालत में इस कल्पना का ही दाम क्या कम है ? तमाम जेठ जब आसमान जलकर खाक हुआ जाता है, तब अगर मन में आषाढ़ की तसवीर को जगाए न रखा जाए तो आषाढ़ का इन्तजार असह्य ही तो हो उठेगा ।

फसल लगने में एक अरसा लग जाता है । ये व्रत उन दिनों के हैं जब अनाज उपजाना लोगों ने तुरत-तुरत सीखा था । यह काम उस युग मे कितना कठिन था, कितना कठोर ! इसलिए मन में बल चाहिए था । अनाज बुनने से काटने तक कुछ कम समय तो नही लगता ! इस अरसे के लिए हृदय में धीरज और बल होना चाहिए । वह धीरज और बल आए कहाँ से ? जादू-विश्वास से ।

जादू-विश्वास है तो एकबारगी अनहोना, फिर भी जिन दिनों मनुष्य ऐसे बेबस थे, तब ऐसा विश्वास भी बेमानी नहीं था ।

प्रकृति वश में आई

मगर आदमी भी क्या गज़ब का जीव है ! उसकी हालत शुरू-शुरू ऐसी रही ज़रूर, परन्तु प्रकृति से केवल दया की भीख मांगकर ही वे बैठे न रहे, वल्कि उन हाथों उन्होंने हथियार बनाए, हथियार संभालकर प्रकृति से लड़ना शुरू कर दिया। जहाँ लड़ाई से नहीं बनता, वहाँ कल्पना कर लेते। मगर किसी भी हालत में हिम्मत नहीं छोड़ते। और चूंकि हिम्मत नहीं हारते, इसलिए केवल कल्पना के भरोसे सारा समय हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहने की नौबत नहीं आती। लड़ाई में उनकी जीत होती गई, उनके हथियार दिन-दिन तेज़ और बेरोक होते गए।

आदमी ने आरम्भ कहाँ से किया था ? यह एक धुंधले अतीत की बात है। लोगों ने पहले यहाँ-वहाँ से पत्थर के कुछ थोथे-भोथे टुकड़े चुन लिए थे—वही बने थे उनके हथियार। उन्हीं के सहारे फल-मूल जुटाने की कोशिश की गई थी। उतना ही उस समय जीने का आधार था। बाद में उन्हीं भोथरे टुकड़ों को मनुष्य ने तेज करना सीखा। बरछे बनाए, भाले बनाए। बनाए तीर-धनुष। शिकार करने की गुंजाइश हुई। जीने का मसला आसान हुआ। उसके बाद पत्थर के बजाए मनुष्य ने धातु का व्यवहार सीखा। उसकी ताकत और बढ़ी। जंगल के पशु वश में आए। फिर मनुष्य ने माटी को गोड़कर उसी में अनाज उपजाना सीखा।

पृथ्वी मनुष्य के वश में आई। मनुष्य के घर अनाज के ढेर से भरने लगे। कैसे ढेर, इसके सबूत आज भी धरती पर मिलते हैं। मिस्र के पिरामिड, ईंटों की दीवारों से घिरे हरप्पा-मोहेंजोदड़ो शहर, और भी जाने कितने !

ये सबूत कैसे हैं, सो सुनिए। हरप्पा की ही कहें। मुलतान से लाहौर तक रेल की लाइन बिछाने का भार ब्रांटन साहब पर था। लाइन बिछाने के लिए झामा ईंट के टुकड़े मिल पाते तो सहूलियत होती। उन्हीं पर लाइन बिछाई जाती। ब्रांटन को खबर मिली, पास ही किसी शहर का खंडहर है, वहीं से ईंटें जुटाई जाएँ। ब्रांटन को यह पता नहीं था कि वही शहर हरप्पा है। सो वहाँ से ईंटें ढुलवाई गईं। सौ मील लम्बी रेल की लाइन उन्हीं ईंटों पर बिछाई गई। आज भी जब गाड़ी मुलतान से लाहौर को दौड़ती है, तो उसके पहियों के नीचे चार-पाँच हजार साल पहले की ईंटें मड़मड़ाती हैं। ये ईंटें तब के लोगों की बनाई हुई हैं।

सौ मील रेल-लाइन बिछाने में कितनी ईंटें लगती हैं? हरप्पा के खंडहर से ही उतनी सारी ईंटें बटोरी गईं। इतने पर भी हरप्पा का खंडहर सूना नहीं हुआ। इसी से यह सोचिए कि जब हरप्पा शहर गुलजार होगा, तो वहाँ कितनी ईंटें होंगी !

उस शहर को बनाने में कितनी ईंटें लगी होंगी ? और ईंटें कुछ आसमान से तो टपक नहीं पड़ीं। एड़ी-चोटी का पसीना एक करके ईंट बनानी पड़ती है। मतलब की ईंट बनाने के लिए मनुष्य को मशक्कत करनी पड़ती है; माटी को गोड़ना

ड़ता है, साँचे में ढालना पड़ता है, भट्ठा पकाना पड़ता है।
र केवल ईंट होने ही से तो हरप्पा-जैसा एक शहर नहीं
नाया जा सकता ! उसके लिए और भी हजारों काम करने
। ज़रूरत है।

मोटे तौर से हिसाब लगाकर ही समझा जा सकता है कि
। शहर को बनाने में हजारों-हजार लोगों को अपना खून
नी करना पड़ा था। इसीलिए यह शहर इस बात की गवाही
। है कि मनुष्य ने ढेरों अनाज उपजाना सीखा था। क्योंकि
हजारों-हजार लोगों ने एक इतनी बड़ी कीर्ति जो खड़ी
उन्हें पेट भरने को दाने भी तो देने पड़े होंगे ! उन मिस्त्री-
रों ने खुद खेती नहीं की। खेती की ज़िम्मेदारी अगर फिर
होती, तो उतना बड़ा एक शहर बना लेना सम्भव नहीं
। लिहाज़ा यह साफ है कि अनाज औरों ने उपजाया होगा।
उन्हें कितना अनाज उपजाना पड़ा होगा, सोच देखिए !
। गुज़र-बसर हो सके, इससे कहीं ज्यादा उन्होंने उपजाया,
तो हजारों-हजार मजूर-कारीगरों का पेट चलाया जा
।

पुराने मिस्र के पिरामिड भी ऐसे ही गवाह हैं। कई लाख
ने वर्षों लगातार मिहनत की, तब कहीं ये पिरामिड खड़े
उन्होंने भी खुद फसल नहीं उपजाई। दूसरों ने जो उप-
उसीसे उनकी रोटी चली। किन्तु जो उपजाते थे, उन्हें
ने के लिए खाने की ज़रूरत थी। इसका मतलब यह
कि उन्होंने अपनी रोज़ी तो चलाई ही, ऊपर से लाखों-
लोगों के जीने का सामान जुटाया। अपने उपजाए अन्न

के बचे अंश से उन्होंने कारीगर-मजूरों को खिलाया।

नाच : आदिम मनुष्य का बनाया चित्र

अनाज की बढ़ती से लाखों-लाख मजूर-कारीगरों को जिलाना क्या मामूली बात है? इसीसे समझ सकते हैं कि आखिर कितना ज्यादा अनाज उपजाया गया होगा।

इसीसे हमने कहा, प्राचीन सभ्यता की ये कीर्तियाँ इस बात की गवाही देती हैं कि प्रकृति मनुष्य के वश में आई।

मन्त्रशक्ति और मन्त्रगुप्ति

किन्तु प्रकृति ही जब वश में हो जाए तो जादू-विश्वास की भी जरूरत रह जाती है क्या ? जब तक मनुष्य की दशा असहाय थी, तब तक तो उसकी माँग रह भी सकती थी—ऐसी माँग कि प्रकृति को जीतने की कल्पना को रूप दिया जा सके। लेकिन मनुष्य ने जब सचमुच ही प्रकृति को वश में कर लिया, तब, कौन-सी जरूरत रह गई उसकी ?

तो क्या प्रकृति को वश में करने के बाद से मनुष्य के मन से जादू-विश्वास नाम की अजीबोगरीब चीज धुल जाने लगी ?

नहीं। यही सबसे बड़े अचरज की बात है। जादू-विश्वास फिर भी रह गया। केवल उसकी जात, उसका उद्देश्य बदला।

रह गया के माने ? तो खोलकर ही बताएं।

पहले मसला एक ही था—प्रकृति से मनुष्य की लड़ाई। अब एक और नई समस्या सामने आई, मनुष्य-से-मनुष्य का संग्राम। और इसी नए संग्राम की खातिर जादू-जैसा अजीब विश्वास टिका रह गया। टिक तो गया, पर उसकी जात बदल गई। जादू-विश्वास अब जादू-विश्वास नहीं रह गया। वह बन गया धर्मविश्वास।

इसे ठीक-ठीक समझने के लिए बहुत-बहुत बातें जाननी पड़ेंगी।

पहले तो यह जानना होगा कि मनुष्य-से-मनुष्य के संग्राम के मानी क्या हैं ? आदिम मनुष्य दल बाँधकर, एक होकर

रहते थे। दल में सब समान थे। सभी मानो एक थे। दल के सभी लोग मिलकर, जी-जान से मिहनत करके जो खूराक जुटा सकते थे, उतने ही से किसी तरह सबका गुजर-बसर चलता था। लेकिन प्रकृति जब कुछ-कुछ वश में हो आई तो हालत और हो गई। लोगों ने प्रकृति से बहुत ज्यादा खूराक वसूलना सीखा। इससे एक के लिए या कई के लिए यह मुमकिन हो गया कि बाकी लोगों की मिहनत से मिलनेवाली चीजों के बढ़ती हिस्से को अपने भण्डार में भर सकें। हुआ भी यही। बहुत इलाकों में लोगों ने जो उपजाना शुरू किया, उसका एक हिस्सा राजा के भण्डार में जाने लगा। पहले इसकी क़तई गुंजाइश नहीं थी, क्योंकि तब बढ़ती नाम की कोई चीज ही नहीं थी—जी-जान लगाकर लोग जो उपजा पाते थे, उससे मुश्किल से अपने को ही जिन्दा रख सकते थे।

गर्ज कि प्रकृति को ज्यादा वश में ला पाने से ही मनुष्य के जीवन में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया। मनुष्य-से-मनुष्य का जो सम्बन्ध था, वह बराबरी का नहीं रहा। समाज साफ तौर से दो भागों में बँट गया। एक ओर वे अनगिनत लोग रहे, जो मिहनत-मशक्कत करते हैं। और दूसरी ओर वे मुट्ठी-भर लोग रहे, जो दूसरों की मशक्कत से पैदा होने वाली बढ़ती चीजों को हड़पते हैं। दूसरों की मशक्कत से पैदा होने वाली चीजों को हड़पना ही शोषण है। इसी को संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि मनुष्य का समाज दो हिस्सों में बंट गया। एक ओर रहे शोषक, दूसरी ओर शोषित। इसीलिए यह कहा गया कि मनुष्य के जीवन में इस समय से एक नई

समस्या सामने आई। पहले केवल प्रकृति से मनुष्य का संग्राम था, अब मनुष्य-से-मनुष्य का संग्राम शुरू हुआ।

लेकिन सोचना यह है, मनुष्य-से-मनुष्य के संग्राम की यह जो नई समस्या सामने आई, इसी के लिए जादू-विश्वास को नए सिरे से टिकाए रखने की क्या ज़रूरत हो सकती है? इसका कारण है। वे गिने-चुने कुछ लोग, जो बाकी सबकी मशक्कत की बढ़ती कमाई को अपने भण्डार में भर लेते उनके लिए यह ज़रूरी था कि औरों को हुकूमत में रखें। और हुकूमत में रखने के लिए जादू-विश्वास को नए सिरे से टिकाए रखने में सुविधा थी। क्यों सुविधा थी, यह देखिए।

चुपचाप तो कोई अपनी कमाई औरों के भण्डार में देने से रहा। हंसकर, जबान बन्द करके कोई ऐसा नहीं कर सकता—कर सकता था भय से या भक्ति से। इसीलिए सबके मन में भय-भक्ति जगाए रखने की ज़रूरत थी।

मगर भय किसे देखकर होगा? किसे देखकर भक्ति होगी? जिसके कि बहुत ही शक्ति हो। कैसी शक्ति? मन्त्र की शक्ति। और वह भी क्या ऐसी-वैसी? उसीसे नदी में बाढ़ आती है, उसी के प्रभाव से सूरज डूबता है, उगता है।

यह फिर कैसी बात हुई? बात मिस्र देश की कह रहे हैं। रह-रहकर अचानक मिस्र की बात क्यों उठ आती है? क्योंकि आदिम दशा वाले पूरे दल का जादू-विश्वास बदलकर महज़ एक आदमी की मन्त्र-शक्ति कैसे बन गया, उसका इतिहास प्राचीन मिस्र के बारे में साफ़-साफ़ जाना जा सका है। जहाँ-जहाँ की बाबत यह इतिहास नहीं जाना गया है, उसे भी

मिस्र में पाये गए छोर से ही खोजना पड़ेगा।

प्राचीन मिस्र की बात बताएं।

पूरे मिस्र का सुख-दुख नील नदी की बाढ़ पर मुनहसर था। प्राचीन मिस्र का जो भी वैभव है, सब नील नदी का ही दान था। उस नील नदी में हर साल एक निश्चित समय में ही बाढ़ आती थी। क्यों ? इस क्यों का जवाब हम जानते हैं। हमें पता है कि गर्मियों में तेज़ धूप से दूर-दूर के पहाड़ों की चोटी की बर्फ गलने लगती है और वही पिघली बर्फ़ का पानी नील नदी के दोनों कूलों को छापकर उमड़ उठता। हम यह जानते हैं कि सूर्यग्रहण के समय चांद सूरज और पृथिवी के बीच में आ जाता है, इसीसे सूरज हमारी आंखों की ओट हो जाता है। हमारी यह जो जानकारी है, यह है विज्ञान। प्राचीन मिस्र के लोग लेकिन इतनी बात नहीं जानते थे, उस समय तक विज्ञान का जन्म नहीं हुआ था। उनमें से कोई-कोई महज़ इतना जान सके थे कि नील नदी में ठीक किस समय बाढ़ आएगी। कैसे जाना ? आसमान के तारों को देखकर बरस का लेखा लगाना उन्होंने सीखा था और उसीसे बरस के खास समय को पहचान पाया था कि कब बाढ़ आएगी।

बाढ़ आने के पहले वह मन्तर पढ़ देता। नील नदी के दोनों किनारे छापकर बाढ़ आ जाती। लोग समझते, बाढ़ उनके मंतर से ही आई। मंतरवाला आदमी कोई ऐसा-वैसा नहीं।

या सूर्यग्रहण के आगे वह मंतर पढ़ देता। आकाश में सूरज ढक जाता। ग्रहण छूटने के पहले मंतर पढ़ देता। ग्रहण

छूट जाता। लोग सोचते, सूरज का जीना-मरना सब मंतर के ही जोर से होता है। और तब मंतरवाला आदमी तो मामूली नहीं।

मन्त्रशक्ति! हकीकत में बात क्या है, यह हम समझ सकते हैं। मामला क्या है? मामला अनहोना ही है। ठीक जादू-विश्वास के ही समान अजीब, असभव, कल्पना। अजीब आखिर क्यों? इसलिए कि नदी में बाढ़ आने या सूरज के बुझ जाने के पीछे एक बधा-बंधाया नियम है—वह नियम प्रकृति का है। प्रकृति का नियम है इसलिए मनुष्य के चाहने-न-चाहने की वह परवाह ही नहीं करता। सूरज के तेज से अगर पहाड़ की चोटी पर बर्फ गलेगी तो नील नदी में बाढ़ जरूर ही आएगी। वह कुछ मंतर पढ़ने पर तो निर्भर नहीं करता। इसलिए मन्त्र की शक्ति पर ऐसा विश्वास भी अजीब ही है। यह भी जादू-विश्वास-जैसी निरी कल्पना है। मगर कल्पना चाहे हो, इस विश्वास का प्रभाव कैसा है! आम लोग सोचते हैं, मन्त्र की शक्ति कैसी अपार है! और जो मन्त्र जानता है, जिसके वश में यह शक्ति है, उसकी अपनी शक्ति भी बहुत बड़ी है, बड़ी भयंकर है।

यह मन्त्रशक्ति किसके वश में थी? प्राचीन मिस्र के पुरोहित के वश में। सो बाकी लोग उससे खूब डरते थे। भक्ति करते थे। इसी भय और भक्ति से लोग उसके सामने झुक जाते। दूर-दूर तक फैले इलाकों की जनता एकाध की हुकूमत में इसी तरह रहना सीखने लगी। वे अपनी उपज का बड़ा हिस्सा वैसे एकाध खास लोग के भण्डार में पहुँचा देते।

और उतने-उतने लोगों का बढ़ती हिस्सा जमते-जमते वैसे एकाध खास लोगों का भण्डार बेशुमार बढ़ चला।

प्राचीन मिस्र में जो पुरोहित थे। वही थे राजा। मन्त्र की शक्ति उसी की थी। उसकी अपनी शक्ति थी। अकेले की। वह शक्ति क्या ऐसी-वैसी थी? उसीके चलते उसका इतना वैभव था, इतना प्रताप था! उसके पास इस मन्त्र से बढ़कर मूल्यवान और कुछ नहीं था। चूंकि मन्त्र बड़ा कीमती था, इसीलिए और लोगों से उसे छिपाकर रखने की जरूरत थी। इसी को कहते हैं मन्त्रगुप्ति। इसी कारण दूसरों की निगाह में मन्त्र बड़ा रहस्य बन बैठा।

जरा ठहरिए, दो-एक बात खोलकर बता दूं।

आदिम जमाने की जादू-विद्या क्या रातोंरात मन्त्रशक्ति बन गई? हर्गिज नहीं। आदिम युग के टोटेम-दल टूटकर क्या रातोंरात राजा-प्रजा का भेद दिखाई पड़ा था? यह भी नहीं। जादू-विश्वास को बदलकर मन्त्रशक्ति बनने में बड़ा लम्बा अरसा लगा था, शायद कई हजार बरस, कितने बरस सो कौन जाने! आदिम टोटेम-दल टूटकर राजा-प्रजा का जो भेद समाज में दिखाई दिया, उसमें कितने हजार बरस लगे, यह कोई नहीं जानता। इसलिए अगर आप यह सोच बैठें कि अजाने अतीत में किसी-किसी चालाक आदमी ने यह ढूंढ निकाला कि मन्त्रशक्ति से लोगों को कब्जे में रखना आसान है और सोचते ही रातोंरात वह पुरोहित बन बैठा—तो ऐसा सोचना भूल होगी। इस घटना को घटने में बेशक हजारों बरस लग गए होंगे। जिन्होंने मन्त्रों को छिपाना शुरू किया था,

खुद वे भी मन्त्र के छिपाने और उसकी शक्ति पर विश्वास रखते थे—उनके आगे मन्त्र की शक्ति लोगों को ठगने का साधन नहीं थी।

असल में नए-नए हथियारों के आविष्कार से मनुष्य के जीवन में जो एक-बहुत बड़ा हेर-फेर आ रहा था, उस युग के आदमी खुद भी उसे नहीं समझ पा रहे थे। जो एकाध आदमी सब पर प्रभुता पाते जा रहे थे, उन्हें भी यह नहीं मालूम था कि टोटेम-दल की बिखरी हुई शक्ति किस तरह उनमें सिमटती जा रही थी।

जब तक मनुष्य जमात बाँधकर जीते रहे, तब तक दल के मुखिया पर तरह-तरह की जिम्मेदारियाँ थीं। मालिकाना नहीं, जिम्मेदारी। इन जिम्मेदारियों में से एक जिम्मेदारी जादू-सम्बन्धी भी थी। यों तो सारा-का-सारा दल ही जादू में रँग गया था, पर दल की पुकार दल के मुखिया की ओर से होती थी। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों जमात टूटने लगी, त्यों-त्यों जमात के मुखिया की जिम्मेदारी उसकी निजी शक्ति में बदलने लगी। जादू की शक्ति भी समूचे दल की शक्ति नहीं रही। धीरे-धीरे निजी शक्ति बनती गई। नतीजा यह निकला कि जादू जादू न रहा, मन्त्र हो गया। लेकिन मन्त्र झूठ है, यह बात दल का मुखिया भी नहीं जानता था। समझता भी नहीं था। उसे यही विश्वास था कि मन्त्र की बेहद शक्ति है। वह भी यही सोचता था कि इसी के बल पर नदी में [illegible] है, सूरज डूब जाता है। इसलिए ऐसा नहीं कहा [illegible]
समझ-बूझकर लोगों को ठगने की [illegible]

सच पूछिए तो सहज करने के लिए ये बातें बहुत सीधे ढंग से बनाई जा रही थीं। कई हजार साल के इतिहास को महज कई बातों में समझाने की कोशिश से भूल समझा जा सकता है। परन्तु कई हजार बरस तक जो घटनाएँ घटती रहीं, उन्हें थोड़े में समझ रखने की भी जरूरत है। हुआ क्या? कौन-सी घटना घटी? घटना यह घटी कि आदिम टोटेम-दल टूट गया, राजा-प्रजा का भेद आया। जादू-विश्वास जाता रहा, मन्त्र-शक्ति आई।

जादू-विश्वास और मन्त्र-शक्ति में कैसा जमीन-आसमान का अन्तर है, इसे भी अच्छी तरह समझ लेना जरूरी है। मन्त्र को छिपाए रखने वाली बात पर गौर करने से पता चलता है कि जादू-विश्वास में किस तरह का फर्क आया।

दोनों में फर्क किस तरह का आया? अभी-अभी हमने देखा, शुरू का जादू-विश्वास और बाद का मन्त्र-विश्वास—कल्पना और झूठे विश्वास के लिहाज से दोनों समान हैं। वर्षा का नाच नाचा जाता था, इसलिए बारिश नहीं होती थी। बारिश की वजह और थी। ठीक ऐसे ही किसी के मन्त्र पढ़ देने से नील नदी में बाढ़ नहीं आ जाती थी—बाढ़ आने का असली कारण कुछ और था। असल बात तो यह है कि प्रकृति के कुछ क़ायदे-क़ानून हैं। प्रकृति में क्या होगा, क्या नहीं होगा—यह बात निर्भर करती है उसके नियम पर। जब तक लोगों में जादू का विश्वास जमा रहा, तब तक उन्हें इन नियमों की खबर नहीं थी। तब तक लोगों ने शायद यही समझा किया कि प्रकृति मनुष्य के हुक्म बजाने में ही

लगी हुई है। मनुष्य जब आकाश में काली घटाओं की कल्पना कर लेता है तो बारिश होने लगती है। मन्त्र पर विश्वास लगभग ऐसा ही रहा। सोचा गया कि मन्त्र से प्रकृति पर कोई हुक्म किया जाए, तो मजबूरन प्रकृति को तामील करना ही पड़ेगा। इसका मतलब यही हुआ कि तब भी लोगों को इसका पता नहीं था कि प्रकृति असल में अपने नियम पर चलती है—उसका नियम मनुष्य की मांग के मुताबिक नहीं होता। दोनों में भूल एक ही रही।

इतने पर भी जादू और मन्त्र में फ़र्क था—बहुत बड़ा फ़र्क। जादू-विश्वास में मनुष्य और प्रकृति की लड़ाई को सुलझाने की कोशिश थी। मन्त्र में सुलझाने की समस्या हो गई मनुष्य और मनुष्य का संग्राम। दोनों में अन्तर आकाश-पाताल का है। इसीलिए कहा गया कि शुरू की जादू-विद्या जब मन्त्र-शक्ति बन गई, तो उसकी जात बदल गई।

जादू-विश्वास वास्तव में किसी एक का, अकेले का नहीं था। क्योंकि उस समय तक लोग जमातों में रहकर जीने की कोशिश कर रहे थे। उनके हथियार काम के नहीं थे। काम के नहीं थे इसलिए जीने के लिए बड़े साहस की ज़रूरत थी। जादू-विश्वास पूरे दल को जोश देता था, उसी जोश और साहस से प्रकृति के साथ लोहा लेना सम्भव हो सका था। तो मतलब क्या निकला? जादू-विश्वास कैसी समस्या को सुलझाना चाहता था? मनुष्य के साथ प्रकृति की लड़ाई की समस्या को।

मन्त्रशक्ति में बात और हो गई। एकाध लोग मन्त्र की

शक्ति से बाकी लोगों के हर्त्ता-कर्त्ता-विधाता बन बैठे। इस-लिए यह समस्या प्रकृति से मनुष्य के संग्राम की नहीं बल्कि मनुष्य से मनुष्य के संग्राम की है।

सुलझाने की बात लें, तो जादू-विश्वास भी गलत है, मंत्र-शक्ति भी गलत। दोनों ही में मनुष्य की कमज़ोरी झलकती है। मगर कमज़ोरी अलग-अलग तरह की है। जादू-विश्वास में प्रकृति के सामने मनुष्य की कमज़ोरी का परिचय मिलता है और मन्त्र में समाज के सामने मनुष्य की कमज़ोरी का। समाज के मानी मनुष्य से मनुष्य का सम्बन्ध।

जादू-विश्वास से धर्मविश्वास

धरती के कोने-कोने में आज भी मनुष्य की जो जमातें
दिम दशा में पड़ी हुई है, चलिए फिर एक-बार उनकी
ज-खबर ले आयें ।

ऐसे लोगों में धर्मविश्वास नाम की किसी चीज़ का पता
लता है क्या ? बहुत दिनो तक पंडितो का ख़याल था कि
लता है । लेकिन आदिम लोगों के रहन-सहन, आचार-
ार का जैसे-जैसे ज्यादा पता चलता जाता है, वैसे-ही-
यह साबित होता जाता है कि धारणा गलत है । उनमें
विश्वास का वास्तव में कोई चिन्ह नही पाया जाता ।
क उसके बदले उनमें जादू-विश्वास है । असल मे सभ्य
उनके मन के भावों को समझने मे बहुत बार भूल से
े सभ्य भाव की उनमें कल्पना कर लेते हैं । फलस्वरूप
ी मे जादू-विश्वास को ही धर्मविश्वास मान लेते हैं ।
लन यह देखा गया कि आदिम लोग व्रत करते समय फूल
ते हैं । सभ्य लोग फूल चढाया करते है पूजा करते
। सो सभ्य लोगों ने समझा, आदिम लोग भी शायद
करते हैं ! लेकिन हकीकत मे तो बात ऐसी नही है ।
और पूजा के फूल में फर्क है ।

तो धर्मविश्वास का असल मे मतलब क्या होता है ?
ब यह होता है कि धरती पर की घटनाएं पृथिवी के
म के मुताबिक नही घटतीं, बल्कि ईश्वर की इच्छा से

घटती हैं। उस ईश्वर को फूल-नैवेद्य चढ़ाकर प्रसन्न किया जा सकता है, उसकी इच्छा को मोड़ा जा सकता है आदि-इत्यादि।

आदिम लोगों के हाल पर गौर करें तो पता चलता है कि वे यह सब कुछ भी नहीं जानते कि देवता क्या होता है, ईश्वर का मतलब क्या है, भगवान् के माने क्या हैं। वे न तो पूजा करना जानते हैं, न विनती करना। फूल-नैवेद्य चढ़ाकर ठाकुर को खुश करने की कल्पना भी उन्हें नहीं आती : उनमें धर्मविश्वास नहीं, बल्कि जादू-विश्वास है।

तो आदिम मनुष्यों की इस बात का पता लगाकर ठीक क्या जानकारी हुई ! जानकारी यही हुई कि बहुत-बहुत पहले जब हमारे पुरखे भी ऐसी आदिम दशा में थे, तो उनमें भी धर्मविश्वास नाम की कोई चीज नहीं थी। उसके बदले उनमें भी जादू-विश्वास था। क्योंकि जो दशा आज के आदिम लोगों की है, कभी हमारे पुरखों की भी वही दशा थी।

विश्वास के लिहाज से जादू-विश्वास बेशक भूल है। फिर भी इसी भूल-विश्वास ने आदिम-युग में मनुष्यों को प्रकृति से लड़ने की प्रेरणा दी थी। धर्मविश्वास का प्रभाव ही अलग है। इसमें है संग्राम के बदले प्रार्थना—करुणा याचना, दया माँगना, आशीर्वाद माँगना।

जादू-विश्वास के साथ काम करने का भी योग था। व्रत और पूजा में जो भेद है, बताया जा चुका है। जैसे, फसल के लिए मनुष्य जो व्रत करता है, उसमें फसल के लिये किसी से भीख नहीं माँगी जाती; फसल उपजाने की कोशिश

जाती है। जादू-विश्वास में ऐसा ही होता है। अगर
कार में जाना है, तो जाने के पहले शिकार का नाच नाच
या गया।

यह तो मानना ही पड़ेगा कि जादू-विश्वास अनहोना
है जितना ही क्यों न हो, उसमें संग्राम की कोशिश साफ
और धर्मविश्वास का ढंग मन में पैदा होने के समय से
अलग होता है और वह होता है संग्राम की कोशिश के
य संग्राम से परहेज।

कई अर्थों में यह बात सच है। किस-किस अर्थ में अब
देखें।

पहला तो यह कि इस विश्वास के ज़रिये मनुष्य से मनुष्य
संग्राम पर रोक लगाई जा सके। क्योंकि इसी विश्वास
नुष्य को इस बात से गुमराह रखने में मदद पहुँचाई कि
ग शुरू हुआ है, मनुष्य से मनुष्य की लड़ाई आरम्भ हो
है। जहां-जहां भी धर्मविश्वास का उदय हुआ, वहीं-वहीं
ाया गया कि इस विश्वास से यह भावना जागी—दर-
राजा भगवान् की ही सन्तान है, उसी का प्रतिनिधि है।
हकीकत में अगर यही बात हो तो राजा से लड़ना और
न् से लड़ना एक ही बात है। इसलिए धर्मविश्वास के
क प्रजा को चाहिए कि बिना ज़बान हिलाए राजा का
जाये; अपनी कमाई का एक हिस्सा चुपचाप अपने
उसके भंडार में रख आए। ना-नु की कोई गुंजाइश ही
यह संग्राम नहीं, दासता है।

र्मविश्वास ने मनुष्य को यह सिखलाया कि संसार में

जो भी घटना चाहे घटित हो, उसके लिए कोई आदमी ज़िम्मेदार नहीं है। इसलिए कि कोई भी घटना मनुष्य की इच्छा या कोशिश से नहीं गुज़रती, गुज़रती है किसी अलौकिक शक्ति के चलते, ईश्वर की इच्छा से। ऐसी हालत में आम लोगों के जीवन में दुःख, दुर्गत, अपमान जितना भी चाहे आए, उसके लिए न तो राजा ज़िम्मेदार है, न राजा के प्यादे। थोड़े में यों कहिए, उसका ज़िम्मेदार किसी आदमी को नहीं माना जा सकता। अगर इसकी नालिश करनी ही पड़े, तो खुद भगवान् के खिलाफ़ करनी चाहिए। मगर भगवान् के खिलाफ़ तो वास्तव में नालिश की नहीं जाती। और हक़ीक़त भी कुछ और ही है। सच पूछिए तो मनुष्य की ग़रीबी और अपमान का ज़िम्मेदार मनुष्य ही है। वे लोग इसके ज़िम्मेदार हैं, जो दूसरों की कमाई को हड़प जाते हैं, औरों को पैरों तले दबाकर रखते हैं। इससे यह समझना कठिन न होगा कि ग़रीब लोगों के मन में धर्म-विश्वास जगाकर वैसे लोग कितने निश्चिंत हो गए। एक सीधा-सा नमूना लीजिए। हमारे खेतिहरों पर निलहे साहबों ने भरपूर ज़ुल्म ढाए, उनका सर्वनाश किया। अगर वे खेतिहर करम ठोंककर यह कहते कि यह सब कुछ भगवान् की मर्ज़ी से हो रहा है, इसमें निलहे साहबों का कोई कसूर नहीं है, तो उन लोगों के लिए यह कितना बेख़ौफ़ हो जाता, सहज ही समझा जा सकता है।

इसके सिवाय भी बात है। इस धर्मविश्वास से अभागे लोगों को उनकी ग़रीबी और दुर्गत से भुलाए रखा जा सकता है। अपनी दुर्गत ही कोई भूल जाए तो वह बिना होंठ खोले

ीरों की गुलामी को राजी हो सकता है। न एतराज करेगा, बग़ावत करेगा। क्यों ? अपनी असली हालत की त वे क्यों भूले रहेंगे ? इसलिए कि धर्मविश्वास ने उनके गे रंगीन भविष्य की तसवीर रखी है। परलोक की, पर- ल की तसवीर ! स्वर्ग के सुख की आशा ! शान्ति की छवि ! र वह शान्ति भी कितनी गहरी ! उस सुख का अन्त नहीं उस तसवीर को देखते-देखते मनुष्य का मन ऐसा अलमा ता है कि इस दुनिया के दुःख-दर्द का ज्ञान ही जाता रहता जलन तो रहती है, पर उस जलन का खयाल नहीं रहता। लिए उस दुःख-दर्द को खत्म करने की लड़ाई में उनके हाथ उठते। मन नहीं डोलता।

ग़र्ज़ कि धर्मविश्वास मनुष्य को मुक़ाबला करने के बजाए ा सिखाता है। यानी यह विश्वास मनुष्य से मनुष्य के म पर लगाम डालने का उपाय है। न केवल मनुष्य-से- य के संग्राम पर, बल्कि पृथिवी और मनुष्य के संग्राम की का भी यह एक बहुत बड़ा रोड़ा है। इसकी वजह यह है ड़ाई में पृथिवी से जीतने के लिए पृथिवी के कायदे-कानूनों हचानना चाहिए, जानना चाहिए। अगर वह जाना-चीन्हा तो अपनी ज़रूरत पर मनुष्य उनको काम में नहीं ला —उन्हें काम में ला सकना ही पृथ्वी से लड़ाई में जीतना ता है। लेकिन पृथिवी के नियम-कानूनों को पहचान की राह में यह धर्मविश्वास बहुत बड़ी बाधा बनकर ा।

जो भी घटना चाहे घटित हो, उसके लिए कोई आदमी ज़िम्मेदार नहीं है। इसलिए कि कोई भी घटना मनुष्य की इच्छा या कोशिश से नहीं गुज़रती, गुज़रती है किसी अलौकिक शक्ति के चलते, ईश्वर की इच्छा से। ऐसी हालत में आम लोगों के जीवन में दुःख, दुर्गत, अपमान जितना भी चाहे आए, उसके लिए न तो राजा ज़िम्मेदार है, न राजा के प्यादे। थोड़े में यों कहिए, उसका ज़िम्मेदार किसी आदमी को नहीं माना जा सकता। अगर इसकी नालिश करनी ही पड़े, तो खुद भगवान् के खिलाफ़ करनी चाहिए। मगर भगवान् के खिलाफ़ तो वास्तव में नालिश की नहीं जाती। और हक़ीकत भी कुछ और ही है। सच पूछिए तो मनुष्य की गरीबी और अपमान का ज़िम्मेदार मनुष्य ही है। वे लोग इसके ज़िम्मेदार हैं, जो दूसरों की कमाई को हड़प जाते हैं, औरों को पैरों तले दबाकर रखते हैं। इसमें यह समझना कठिन न होगा कि ग़रीब लोगों के मन में धर्म-विश्वास जगाकर वैसे लोग कितने निश्चिंत हो गए। एक सीधा-सा नमूना लीजिए। हमारे खेतिहरों पर निलहे साहबों ने भरपूर जुल्म ढाए, उनका सर्वनाश किया। अगर वे खेतिहर करम ठोंककर यह कहते कि यह सब कुछ भगवान् की मर्ज़ी से हो रहा है, इसमें निलहे साहबों का कोई कसूर नहीं है, तो उन लोगों के लिए यह कितना बेखौफ़ हो जाता, सहज ही समझा जा सकता है।

जानने के कारण मनुष्य ऐसी व्यवस्था कर लेते है कि उसके फल से उनका सुख और वैभव ही बढ़ता है। इसी को कहा गया है, मनुष्य का पृथिवी को जीतना। दो-चार बातगी से ही यह बात और साफ हो जायगी। ज़मीन में बीजा बोने से पौधा होता है। यह धरती का नियम है या आदमी की मरज़ी? बेशक यह धरती का ही नियम है। बहुत दिनों की कोशिश के बाद कहीं मनुष्य इस नियम को जान सका। जानने के बाद किया क्या? किया यह कि पृथिवी के ज़रिये ही अपने लिए ढेरों नाज उपजाने लगा। फसल पृथिवी के नियम के मुताबिक फलती है, मगर उस नियम को चूंकि मनुष्य ने पहचान लिया, इसलिए उसने ऐसा बन्दोबस्त किया, जिससे मांग-मुताबिक फसल उसके लिए मानो पृथिवी पैदा कर देने लगी। या यह सोचिए कि कोयले में सूरज से पाया हुआ तेज छिपा हुआ है; कोयले को जलाने से वह तेज बाहर निकल आता है। यह नियम किसका है? निस्संदेह यह नियम पृथिवी का है। मनुष्य की खुशी-नाखुशी पर यह नियम निर्भर नही करता। तो फिर मनुष्य ने क्या किया? मनुष्य ने उस नियम को जान लिया। जानने के बाद उसने माटी के भीतर से कोयले को निकाला, निकालकर उसमें आग लगाई और छिपे हुए तेज को उसमें से बाहर निकाला। अब वह तेज ही मनुष्य के लिए काम करने लगा—उस काम के लिए मनुष्य को मशक्कत की ज़रूरत नहीं रह गई। मतलब यह कि पृथिवी के नियम से ही एक वाक़िया हुआ लेकिन उसका लाभ मिला मनुष्य को। पृथिवी को जीतना यही कहलाया। जीतने में असल बात पृथिवी के क़ायदे-कानून

पृथिवी को जीतना क्या है ?

मनुष्य पृथिवी को जीत रहा है। किस मानी में जीत रहा है। कैसे जीत रहा है ? क्या उसी मानी में, जिस मानी में कि विदेशी किसी देश को जीतते हैं ? विदेशी जिस देश को जीतते हैं, उसके मत्थे अपने मनमुताबिक कायदे-कानून लाद देते हैं। लेकिन पृथिवी के लिए तो मनुष्य वैसे विदेशी जैसे नहीं हैं। वे पृथिवी के बाहर से तो नहीं आते, इसी पृथ्वी के ही वे एक अंश हैं। धरती की बहुतेरी चीज़ों ने मिलकर मनुष्य को बनाया है। पृथिवी के जो कायदे-कानून हैं, वे नितांत ही पृथिवी के हैं। यहाँ जो भी वाकिया गुज़रे, सब उन नियमों के ही अनुसार गुज़रेंगे। लाख कोशिश करे, पर मनुष्य उन नियमों को गायब नहीं कर सकते। हज़ार कोशिशों के बावजूद पृथिवी के मत्थे मनुष्य अपने मन के नियम नहीं मढ़ सकते। इसलिए मनुष्यों का पृथिवी को जीतना किसी विदेशी की देश-विजय जैसा हो ही नहीं सकता। लेकिन यह बात भी सत्य है कि मनुष्य पृथिवी को जीतता है। किस मानी में जीतता है ? किस तरह जीतता है ? असल में मनुष्य करते क्या हैं कि पृथिवी के ही कायदे-कानूनों को और अच्छी तरह ढूँढ़ निकालते हैं। चीन्हते-जानते हैं। और चूँकि उन नियमों को चीन्हते-जानते हैं, इसलिए उनके ज़रिए अपना मतलब निकाल सकते हैं; दुनिया में जो-कुछ गुज़रता है, वह मनुष्य के मनमुताबिक नहीं, बल्कि दुनिया के नियम मुताबिक ही गुज़रता है। लेकिन उन नियमों को

की गई ? धर्मविश्वास से। सत्य की खोज के लिए मनुष्य की जो चिन्ता थी, उसकी राह बहुत दिनों तक इसी धर्मविश्वास ने रोक रखी थी।

इतिहास में ऐसी घटना एक बार नहीं, बार-बार घटती रही है।

प्रकृति के साथ मनुष्य के जूझने में धर्मविश्वास की अड़चन बेहद बड़ी अड़चन रही।

को साफ-साफ जानना है।

इतना जान लेने के बाद फिर हम उसी बात पर लौटें, जिसकी चर्चा हो रही थी। बात हो रही थी धर्मविश्वास की कि वह महज मनुष्य से मनुष्य के संग्राम की ही राह का रोड़ा नहीं बना, बल्कि पृथ्वी से मनुष्य के संग्राम की राह को भी अड़चन होकर खड़ा हो गया। क्योंकि पृथिवी से लड़ाई ठीक-ठीक चलाने के लिए पृथिवी के ही कायदे-कानूनों की जानकारी होनी चाहिए। लेकिन धर्मविश्वास लोगों को यह बताने लगा कि यहां जो कुछ भी होता है, सब ईश्वर की इच्छा से होता है। पृथिवी के नियम से कुछ भी नहीं होता। यह हो गई असल में अलौकिक घटना। किन्तु पृथिवी के नियमों की जानकारी पर ही निर्भर करती है पृथिवी से लड़ाई में आदमी की हार या जीत। ऐसे में धर्मविश्वास राह का रोड़ा बन जाता है या नहीं ?

इधर बलवानों के लिए ग़रीबों को दबाए रखने के काम में भी धर्मविश्वास बड़े काम का निकला। बलवानों ने नियम बना दिया—धर्मविश्वास के खिलाफ़ कोई चूं भी नहीं कर सकता। लिहाज़ा पृथिवी के क़ायदे-क़ानूनों को चीन्हना ही पाप माना गया। पापियों के लिए सज़ा बनाई गई। कैसी सज़ा, याद है ? पृथिवी सूरज के चारों ओर घूमती है, इस संसारी नियम को सच साबित करने में बेचारे बूढ़े गैलिलियो को अपमानित होना पड़ा था, सज़ा भोगनी पड़ी थी। लेकिन उन्होंने जो बताया था, वह सच ही था, झूठ नहीं। तो सच कहने के लिए भी मनुष्य को सज़ा दी गई है! ऐसी सज़ा क्यों तजवीज़

बात है कि लौकिक कारण से भी कोई घटना घट सकती है। इसीलिए उसके अनुसार पृथिवी को पहचानना या उसे जीतना भी गैर-मुमकिन है। आखिर सब कुछ जब ईश्वर ही की इच्छा से होना है तो केवल प्रार्थना का ही कोई मतलब हो सकता है, भगवान् का आशीर्वाद मांगने का ही केवल अर्थ हो सकता है। प्रार्थना से, फूल-फल चढ़ाकर उनके हृदय को गलाने की कोशिश की जा सकती है। अगर वे आप पर प्रसन्न हुए, तो आपकी मनोकामना पूरी करेंगे। मगर अपने बल-बूते पर, अपनी कोशिश से कुछ करने-पाने की बात भी न सोचें। ऐसा हो ही नहीं सकता।

तो धर्म और विज्ञान का अन्तर आकाश-पाताल का है? धर्म अलौकिक के सिवाय कुछ मानता ही नहीं और विज्ञान लौकिक छोड़कर और कुछ नहीं मानता। विज्ञान पृथिवी पर फतह पाना चाहता है। धर्म कहता है, पृथिवी को जीतने की बात ही अनहोनी है।

एक मिसाल लें। गांव में महामारी फैली—चेचक। धर्म ने कहा, माता की दया। यह दया शब्द जी के डर से ही कहा गया। बात क्या है? मां शीतला बिगड़ उठी है और तमाम गांव को उजाड़ने पर उतारू हैं। तो किया क्या जाए? उनका क्रोध शान्त करना पड़ेगा। कैसे शान्त होगा उनका क्रोध? पूजा करनी होगी! पूजा से उनका क्रोध ठंडा होगा। लेकिन विज्ञान कहेगा, नहीं, यह महामारी एक लौकिक घटना है इसके पीछे कोई संसारी कारण है। उस कारण को ढूंढ़ निकालना होगा। खोजते-खोजते सचमुच ही

विज्ञान में विश्वास

फिर भी प्रकृति से लोहा लेने में आदमी आगे ही बढ़ते रहे। कैसे बढ़ते रहे ?

धर्मविश्वास से नहीं बढ़े, बढ़े उसके उलटे एक विश्वास से।

यह विश्वास फिर कौन-सा ? उसका नाम है विज्ञान। विज्ञान के मानी क्या हैं ? धर्म से विज्ञान का फ़र्क कैसा है ? विज्ञान का जन्म कैसे हुआ ?

विज्ञान की असली बात यह है कि इस दुनिया को दुनिया के रूप में ही पहचानने की कोशिश की जानी चाहिए। संसार में जाने कितनी घटनाएं घटती हैं। हर घटना के पीछे बंधा हुआ कारण होता है और वह कारण निहायत संसारी होता है। जो भी जहां भी घटता है, सबके पीछे कोई-न-कोई नियम रहता है। वह नियम संसारी होता है, पृथिवी का नियम होता है। उन नियमों को मनुष्य जितना ही भली तरह पहचान सकेगा, उतना ही ज्यादा वह उनसे अपना मतलब निकाल सकेगा। उतनी ही ज्यादा पृथिवी पर उसकी प्रभुता होगी।

इन्हीं विश्वासों का नाम है वैज्ञानिक विश्वास।

तो धर्म से विज्ञान का अन्तर क्या है ? धर्म का कहना है, हर कुछ किसी अलौकिक शक्ति से होता है, ईश्वर की इच्छा से होता है। धर्मविश्वास के मुताबिक यह असम्भव

विज्ञान के ख़िलाफ़ रुकावट

लेकिन एक बात याद रखनी है। प्रकृति के कायदे-कानून
को जानने-पहचानने से धर्म का इतना विरोध तो है, पर य
विरोध एकबारगी रातोंरात नहीं जाहिर हो उठा। इ
विरोध को साफ़ जाहिर होने में काफ़ी समय लगा है—शाय
कई हज़ार बरस।

एक ही मिसाल से बात स्पष्ट हो उठेगी। प्राचीन मि
की ही बात को लें। नील नदी में बाढ़ ठीक किस दि
आएगी, यह जानना या इस बात को पहचानना प्रकृ
के एक नियम को ही जानना है। उस युग को देखते हु
यह एक आश्चर्यजनक आविष्कार है। किन्तु जिन लोगों क
इस बात की जानकारी हुई, खुद वही यह नहीं समझ स
कि यह जानकारी प्रकृति के नियम की जानकारी है
उनकी कल्पना में लौकिक और अलौकिक का भेद ही मा
नहीं था। वे वैज्ञानिक तो थे नहीं, थे पुरोहित। इसलि
प्रकृति के बारे में यह जो जानकारी उन्हें मिली, इ
उन्होंने अलौकिक कल्पना के पर्दे में ढककर रखने क
कोशिश की। अलौकिक कल्पना का परदा कैसा ? मन
शक्ति की बात। या नील नदी के जो मूल देवता हैं, उनकी बा
उन्होंने जाना, फलां समय नील नदी में बाढ़ आएगी, लेकि
बाढ़ आएगी या तो मन्त्रशक्ति से या नील नदी के देवता
कृपा से। इस देवता को फूल-फल चढ़ाकर प्रसन्न किया

विज्ञान ने उसका कारण खोज निकाला। क्या कारण है, कारण है एक तरह का बीजाणु। उस बीजाणु के कारण ही यह रोग फैलता है। विज्ञान ने यह भी बताया कि उन बीजाणुओं का दल किस तरह लोगों पर चढ़ाई करता है? चढ़ाई करने के बाद क्या किया जाए कि वे हार जाएँ और चढ़ाई के पहले क्या-क्या किया जाए कि वे पास नहीं फटकें—आदि।

इस तरह विज्ञान ने चेचक रोग के बारे में तरह-तरह के नियम-कानून ढूंढ़ निकाले। मगर उससे लाभ क्या हुआ? उन नियमों को जानकर लोगों ने लाभ उठाया, चेचक के डर को जीता जा सका।

समय पर टीका लीजिए, चेचक नहीं होगा। शीतला माई के पैरों सिर फोड़ने के बावजूद हमारे देश के कितने गाँव चेचक से तबाह होते रहे हैं। क्योंकि चेचक के असली कारण वे बीजाणु हैं, जो निहायत लौकिक बात है। इसलिए लौकिक उपायों से ही उससे छुटकारा मिल सकता है। मगर धर्म यह कब मान सकता है।

तो पृथिवी के नियम-कानूनों को साफ-साफ चीन्हना-जानना और उसी जानकारी की मदद से उन नियमों को अपने काम में ला सकना ही विज्ञान की मूल बात है। धर्म से इसका बिलकुल विरोध है।

ो यह नहीं कहेंगे कि उस युग में बड़े-बड़े वैज्ञानिक हुए ! रामिड ने एक ओर तो इस बात की गवाही दी कि मनुष्य बहुत कुछ सीखा, बहुत कुछ जाना । दूसरी ओर उसने यह ी बताया कि मनुष्य के मन के ऊपर अलौकिक शक्ति का हुत बड़ा प्रभाव है । आखिर इतनी बड़ी कीर्ति मनुष्य ने क्या ोचकर की ? क्यों की ? शायद यह सोचकर कि मरे हुए ाजा की आत्मा उस विशाल भवन मे बैठकर भोग-राग ाएगी, मौज-मजे मनाएगी, बाजे बजाएगी ! यह धर्म का ोह और अन्धविश्वास है, इसमें शक नही । मिस्र के सबसे ड़े ज्ञानी का मन भी इस विश्वास से अपने को नही बचा का । इसलिए सच तो यह है कि तब विज्ञान का जन्म नही आ था ।

. संसार की सबसे पुरानी सभ्यता के जितने भी केन्द्र थे, बका एक ही हाल था । प्राचीन बेबिलोनिया के पुरोहितों भी बहुत कुछ जानकारी हासिल की थी। मगर सारी ही नकारी पर धर्म के मोह की गहरी मुहर लगी थी । प्रकृति नियम-कानून के बारे में उन्होंने जो कुछ भी जाना था, मन्दिर के आंगन में, धर्मविश्वास की छांह में । मोहें-दड़ो और हरप्पा का भी शायद यही हाल था । यह जरूर कि मिस्र या मेसोपोटामिया की तरह सिन्धु-सभ्यता में भी ोहित-राज्य था, इस बात का कोई पक्का सबूत आज तक ी पाया गया । लेकिन यहां अभी पूरी खुदाई भी तो नही । लिहाजा खुदाई के बाद भी इसके सबूत नही मिलेंगे, बात बलपूर्वक नहीं कही जा सकती है । जितनी खुदाई

सकता है और चूंकि उन्हें प्रसन्न किया जा सकता है, इसीलि
बाढ़ आती है।

प्राचीन मिस्र के लोगों ने ऐसी और-और जानकारी भी हासिल की थी। उन्होंने ग्रहण का दिन-समय निकालना सीखा था, जगह-जमीन के हिसाब में ज्यामिति की नाप-जोख सीखी थी—और भी बहुत कुछ। लेकिन उनका वह ज्ञान विज्ञान नहीं बन सका था। क्योंकि उस पर धर्म का परदा पड़ा था। इसलिए उन्हें अगर आप संसार के पहले वैज्ञानिक कहें तो भूल होगी। क्योंकि विज्ञान की मूल बात है लौकिक पृथिवी को सब प्रकार से लौकिक ही समझना, यह समझना कि जो घटनाएं घटती हैं, लौकिक कारण से घटती हैं—प्रकृति के नियम-कानून से अलौकिक शक्ति का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। पुराने जमाने के पुरोहित इस बात को नहीं समझ सके; इसीलिए पृथिवी के बारे में बहुत-सी जानकारियाँ हासिल होने के बावजूद वे पुरोहित ही रहे, वैज्ञानिक नहीं बन सके।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि धरती की जो थोड़ी-सी जानकारी उन्हें हुई, वह जानकारी पृथिवी को जीतने के मामले में मनुष्य के किसी भी काम नहीं आई। काम में जरूर आई। नील नदी में बाढ़ आने का समय जानना प्राचीन मिस्र में खेती-बारी की तरक्की में बड़ा काम आया।

या उस जमाने की एक कीर्ति पर ध्यान दें—मिस्र का पिरामिड। इतनी बड़ी एक कीर्ति मनुष्य छू-मन्तर से तो नहीं कर सकता। इसके लिए पृथिवी के बहुत कायदे-कानून जानने की जरूरत है। मगर वह जानकारी होने-भर से ही

कि प्रकृति के नियम-कानून को केवल जानना ही विज्ञान नहीं है धर्मविश्वास के चंगुल से छुटकारा पाकर उन तौर-तरीकों को केवल प्रकृति का ही नियम-कानून समझना पड़ता है।

इस मानी में विज्ञान का जन्म कहां हुआ ? सच पूछिए तो एक बात में इसका कोई जवाब ही नहीं जुट सकता। क्योंकि सभी देशों के इतिहास की अभी पूरी-पूरी खोज-पड़ताल ही नहीं हो सकी है। जैसे, हम साफ़ तौर से यह नहीं जानते कि प्राचीन भारत में धर्मविश्वास के मोह से मुक्त होकर विज्ञान की हद पर पहुंचना सम्भव हुआ था या नहीं। इसका कारण यही है कि प्राचीन युग के बारे में अभी खोज करने को बहुत बाक़ी है।

लेकिन कम-से-कम इस बात में तो सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि ईसा के जन्म के सवा पांच सौ साल पहले ग्रीक-सभ्यता की आबहवा में असली मानी में विज्ञान का जन्म हुआ था। इसलिए आमतौर से उसी सभ्यता के एक पंडित को संसार का पहला वैज्ञानिक कहा जाता है।

उनका नाम है थैलिस। यह मिलेटस शहर के रहने वाले थे। यह शहर उस समय एशिया माइनर में ग्रीकों का व्यापारिक केन्द्र था। शहर के लिहाज़ से प्राचीन मिस्र के शहरों के मुकाबले यह निहायत ही छोटा था। फिर भी विज्ञान का जन्म वहां इसलिए मुमकिन हुआ कि वहां किसी पुरोहित-राज का एकच्छत्र राज नहीं था, न ही बहुत बड़े इलाके के बहुत से लोगों को तावेदारी में रखने की ज़रूरत ही थी। वहां के आज़ाद लोग ही मिल-जुलकर शासन चलाते थे। ग्रीक-गणतंत्र की चर्चा

हुई है, उनीमे कोई-कोई पण्डित यह अनुमान करते हैं कि यहां भी प्राचीन मिस्र या मेसोपोटामिया की तरह दूर-दूर तक फैले इलाके में बहुत सम्भव है कि एकाध आदमी का एकच्छत्र शासन कायम हुआ था।

इस बात को हमने क्यों छेड़ा, यह बता दें। दूर तक के इलाके के बहुत-से लोगों पर अगर एकाध आदमी की हुकूमत कायम रहे, तो उस आबोहवा में विज्ञान की तरक्की में बेशक रुकावट पड़ती है। जहां-जहां संसार की पुरानी सभ्यता की निशानियां हैं, वहां-वहां ऐसी ही हुकूमत का परिचय पाया जाता है। इसीलिए मनुष्य के मन में वैज्ञानिक धारणा पैदा होने में रुकावट भी रही।

रुकावट आखिर क्यों? क्योंकि उतने बड़े इलाके के उतने-उतने लोगों को अगर एक पुरोहित-राज की तावेदारी में रखना है, तो उनके हृदय में भय और भक्ति जगाकर रखना जरूरी है। जरूरी है उनमें धर्मविश्वास पैदा करना। चौथी सदी के एक ग्रीक ऐतिहासिक—इसोक्रेटिस—ने इस बात की नस पहचान ली थी। उन्होंने कहा था—प्राचीन मिस्र के कानून बनाने वाले जतन से तरह-तरह के अन्धविश्वास पालते थे। इसलिए कि इस उपाय से आम जनता को हुक्म बजाने वाला बनाए रखना आसान होता है।

विज्ञान का जन्म

प्राचीन मिस्र इसीलिए सभ्यता की लीला-भूमि तो बना, विज्ञान की जन्मभूमि नहीं बन सका। इतना समझ रखें

सब देवताओं के कारनामे थे, सब कुछ अलौकिक घटना थी। सूरज ग्रहण देखकर वे यही समझते थे कि अंधेरे के किसी अप-देवता ने आसमान पर धावा बोल दिया है। शंख फूंककर, मंतर पढ़कर, उपवास करके उसे संतुष्ट करना चाहिए। सो जब तक ग्रहण लगा रहता, धरती के लोग मारे डर के सूखकर कांटा बने रहते !

लेकिन सूरज ग्रहण देखकर मिलेटस शहर के लोग उस दिन जरा भी न डरे। क्योंकि थैलिस ने ग्रहण लगने का केवल दिन-समय ही नहीं बता दिया था बल्कि यह भी बता दिया था कि ग्रहण लगने से देवता का तनिक भी लगाव नहीं है। थैलिस के मुताबिक चांद जब सीधा सूरज को पार कर जाता है तो हम सूरज-ग्रहण देखते है।

इस तरह लौकिक संसार को महज लौकिक संसार समझने की राह खोल देने के कारण ही थैलिस को संसार के पहले वैज्ञानिक की मर्यादा मिली। यह इज़्ज़त उन पुरोहितों को हरगिज़ नहीं दी जा सकती जो कि मन्दिर के आंगन में बैठकर सिर्फ़ देवी-देवता की चर्चा में डूबे रहते थे।

इससे यह न समझें कि सूरज ग्रहण का जो कारण आज का विज्ञान बताता है, उससे थैलिस का कहना हूबहू मिल जाता है। अगर सच पूछें तो दोनों में बड़ा फ़र्क़ है। फ़र्क़ होने की बात भी है। विज्ञान के माने यह तो है नहीं कि रातोंरात सारी जानकारी हो जाए। दिन-पर-दिन, युग-पर-युग सोचते-विचारते, जांच-पड़ताल करते-करते तब कहीं विज्ञान दुनिया के रहस्य को धीरे-धीरे जान पाया है, पहचान पाया है।

पहले की जा चुकी है। जनराज्य की आबहवा ने लोगों को कुसंस्कार से बचने में मदद पहुंचाई थी, इसमें सन्देह नहीं।

ऐसे मामूली शहर में थेलिस ने ऐसी कौन-सी कीर्ति की? वही किस्सा बताएं।

अट्ठाइस मई का दिन। ईसापूर्व ५८५ साल। उस दिन मिलेटस शहर की सड़कों पर कैसी भीड़ थी, क्या कहें! सब लोगों की निगाह ऊपर आसमान में टिकी। आखिर बात क्या थी?

उस दिन शायद सूरज में ग्रहण लगने की बात थी। लोगों ने वही देखने के लिए भीड़ लगाई थी। सूर्यग्रहण लगेगा, यह लोगों ने कैसे जाना? लेखा लगाकर थेलिस ने पहले ही लोगों को यह बता रखा था। गजब का हिसाब था उसका। शहर के लोगों ने अचरज से देखा, सचमुच ही ग्रहण लगा।

क्या थेलिस से पहले ऐसा लेखा लगाना कोई जानता ही नहीं था? क्यों नहीं। मिस्र के पुरोहित लोग जानते थे। बेबिलोनिया के पुरोहित लोग जानते थे। आज तो कई लोग जोर-जोर से यह भी कहते हैं कि ऐसे पुरोहितों से ही थेलिस ने उसका हिसाब लगाना सीखा था।

फिर भी उन्हें हम वैज्ञानिक क्यों नहीं कहते? क्योंकि उनमें और थेलिस में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ता है।

अन्तर किस तरह का?

सूरज ग्रहण कब होगा, किस समय होगा, उन्हें भी इसका लेखा लगाना आता था—फिर भी ग्रहण होता क्यों है, यह तब के पुरोहित बिल्कुल नहीं जानते थे। उनके लिए यह

विज्ञान ने आज जितना कुछ जाना है, कल उससे अ
ज्यादा जानेगा। आज उसने जितना जाना है, आज से
हज़ार साल पहले इससे बहुत ही कम जाना था। विज्ञान इ
लिए आविष्कार की यात्रा है। इस यात्रा का अन्त नहीं है

यूरोप का पहला दार्शनिक

ये थैलिस नाम के जो पंडित हैं, यूरोप के इतिहास में उन
मर्यादा और भी अधिक है। इसलिए कि यूरोप के इतिहास
इन्हीं को पहला दार्शनिक भी कहा गया है।

मामला क्या है? उन्होंने और कौन-सा काम किया
उनकी दोहरी इज्जत हुई? असल में उन्होंने पूरी दुनिया
रहस्य का एक किनारा ढूँढ निकालना चाहा था। दर्शन
स्थूल रूप में यही समझा जाता है। उनसे पहले दुनिया के रह
को इस तरह से समझने की कोशिश यूरोप के किसी भी पं
ने नहीं की थी।

थैलिस ने आखिर किया क्या था? दुनिया के रहस्य
उन्होंने कौन-सा किनारा खोज निकाला? उन्हें हम यूरोप
पहला दार्शनिक क्यों कहें?

थैलिस की लिखी कोई पोथी आज ज़रूर साबित न
मिलती। दूसरे-दूसरे पंडितों के लिखे पोथी-पत्तरों में थैलिस
राय जहाँ-तहाँ छिटपुट पाई जाती है। और उन्हीं खुदरा खब
पर थैलिस को यूरोप का पहला दार्शनिक कहा जाता है।

ऐसी खबरों में से प्रधान बात एक है। शायद थैलिस
कहना यही था कि जल ही असल में परम पदार्थ है, सा

बेबिलोनिया के पुराण में पानी के उस देवता का नाम शायद मार्दुक है। दूसरे देशों के पुराण में और-और नाम आए है।

थैलिस की असली प्रतिभा तो यह है कि उन्होंने उस देवता को बाद का दर्जा देकर पानी को ही जीवन-मरण का असली कारण माना। पानी से ही सब-कुछ की पैदाइश है, उसी में सब-कुछ का लय होता है—मगर पानी महज पानी है, उससे पानी के किसी देवता का कोई लगाव नही। और गौर से देखें कि फ़र्क कहाँ है। पौराणिक कहानी और थैलिस का दर्शन—इन दोनों में मेल कहाँ है?

पहली बात तो यह कि दोनों ही में पूरी दुनिया की व्याख्या खोजने की कोशिश है। दूसरी कि दो में से एक भी कपोल-कल्पना नहीं—दोनों के पीछे मनुष्य का एक प्रकार का अनुभव है।

इस समानता के बावजूद दोनों में बहुत बडा भेद है। कैसा भेद?

पौराणिक कहानी में अनुभव में जो थोडी-सी बात पाई गई, उतना-भर विचार करके दुनिया की व्याख्या करना सम्भव नही हो सका। बल्कि हुआ यह कि उस अनुभव को देवी-देवता की कल्पना से ढक दिया गया। मतलब यह कि पौराणिक कहानी में न तो अनुभव बड़ी बात है, न अनुभव का विचार करना बड़ी बात है।

थैलिस की बात ठीक उलटी है। वहा अनुभव ही बड़ी बात है, बड़ी बात है उसके विचार की कोशिश। बहुत दिनों के अनुभव से मनुष्य जितना कुछ जान सका था—मिस्र, बेबि-

सब कुछ बह जाता है। बाढ़ हट जाती तो देखते हैं कि वह
काली मिट्टी जम आई है। और देखते-ही-देखते उसमें हरियाली
का वैभव निखर पड़ा है।

यही उनके जीवन का सबसे बड़ा अचरज-भरा अनुभव
था। आज के लोग रहे होते तो इस अनुभव पर सोचने-विचारने
की गुंजाइश रहती। मगर तब ऐसा कहाँ हो सकता था! तब
के लोग इसे यही समझते थे कि पानी से ही सब-कुछ की पैदाइश
है। फिर प्रलय में सब-कुछ उसी पानी में खो जाता है! इसी-
लिए पौराणिक कहानियों में पुराने युग की ये बातें [illegible]
होकर जुड़ी हुई हैं।

मगर सोचने की बात यह है कि एक ऐसी मामूली बात
के लिए थैलिस को उतना मान क्यों दिया जाए? यह क्यों
माना जाए कि यूरोप के पहले दार्शनिक वही थे? आखिर
हमने भी देखा कि उन्होंने वैसा सत्य कुछ नहीं कहा, न कोई
अनोखी ही बात बताई?

पहली नजर में तो ऐसा ही लगता है। लेकिन जरा गहरे
विचार देखिए, तो देखेंगे कि मुँह खोलकर थैलिस का ऐसा
कहना सत्य की खोज में मनुष्य की यात्रा की एक [illegible]
घटना है। कैसे, सो बताएँ।

इसमें तो शक ही नहीं कि थैलिस के पहले बहुतेरे देशों
के पुराणों में पानी को ही सब कुछ का आदि कारण कहा गया
है। मगर वे सब हैं पौराणिक कहानियाँ। कहानी में तो
कारण जल के साथ-साथ उसके एक देवता की भी कल्पना की
गई है! वह देवता ही असल में जन्मदाता, सृष्टि करने वाला है।

बेबिलोनिया के पुराण में पानी के उस देवता का नाम शायद मार्दुक है। दूसरे देशों के पुराण में और-और नाम आए हैं।

थैलिस को असली प्रतिभा तो यह है कि उन्होंने उस देवता को बाद का दर्जा देकर पानी को ही जीवन-मरण का असली कारण माना। पानी से ही सब-कुछ की पैदाइश है, उसी में सब-कुछ का लय होता है—मगर पानी महज पानी है, उससे पानी के किसी देवता का कोई लगाव नहीं। और गौर से देखें कि फ़र्क कहाँ है। पौराणिक कहानी और थैलिस का दर्शन—इन दोनों में मेल कहाँ है?

पहली बात तो यह कि दोनों ही में पूरी दुनिया की व्याख्या खोजने की कोशिश है। दूसरी कि दो में से एक भी कपोल-कल्पना नहीं—दोनों के पीछे मनुष्य का एक प्रकार का अनुभव है।

इस समानता के बावजूद दोनों में बहुत बड़ा भेद है। कैसा भेद?

पौराणिक कहानी में अनुभव में जो थोड़ी-सी बात पाई गई, उतना-भर विचार करके दुनिया की व्याख्या करना सम्भव नहीं हो सका। बल्कि हुआ यह कि उस अनुभव को देवी-देवता की कल्पना से ढक दिया गया। मतलब यह कि पौराणिक कहानी में न तो अनुभव बड़ी बात है, न अनुभव का विचार करना बड़ी बात है।

थैलिस की बात ठीक उलटी है। वहां अनुभव ही बड़ी बात है, बड़ी बात है उसके विचार की कोशिश। बहुत दिनों के अनुभव से मनुष्य जितना कुछ जान सका था—मिस्र, बेबि-

सब कुछ बह जाता है। बाढ़ हट जाती तो देखते हैं कि
काली मिट्टी जम आई है। और देखते-ही-देखते उसमें ही
का अंकुर निकल पड़ा है।

यही उनके जीवन का सबसे बड़ा अनुभव-सा
था। आज के लोग रहे होते तो इस अनुभव पर सोचने-वि
की गुंजाइश रहती। मगर तब ऐसा नहीं हो सकता था।
के लोग इसे यही समझते थे कि पानी से ही सब-कुछ पैदा
है। फिर प्रलय में सब-कुछ उसी पानी में खो जाता है।
लिए पौराणिक कहानियों में पुराने युग की ये बातें
होकर जुड़ी हुई हैं।

मगर सोचने की बात यह है कि एक ऐसी मामूली
के लिए थैलिस को उतना मान क्यों दिया जाए? क्यों
माना जाए कि यूरोप के पहले दार्शनिक वही थे? अब
हमने भी देखा कि उन्होंने वैसा सत्य कुछ नहीं कहा, ब
अनोखी ही बात बताई?

पहली नजर में तो ऐसा ही लगता है। लेकिन बड़ी
विचार देखिए, तो देखेंगे कि मुँह खोलकर थैलिस का
कहना सत्य की खोज में मनुष्य की यात्रा की एक अनर्सन
घटना है। कैसे, सो बताएँ।

इसमें तो शक ही नहीं कि थैलिस के पहले कहीं
के पुराणों में पानी को ही सब कुछ का आदि कारण
है। मगर वे सब हैं पौराणिक कहानियाँ। कहानी
कारण जल के साथ-साथ उसके एक देवता की भी कल्पना
गई है! वह देवता ही असल में जन्मदाता, सृष्टि करने वाला है!

जानने की शर्त : ...

ग्रीक-दर्शन

तो यूरोप के इतिहास में ग्रीक-युग से दर्शन की नींव पड़ी।

आरम्भ में ग्रीक-दर्शन की कोशिश कैसी थी ? यानी ग्रीक-दर्शन की समस्या वास्तव में कैसी थी ? और उस समस्या का किस तरह का हल उन्होंने देने की कोशिश की थी ?

मिलेसीय लोगों की बात

दुनिया में हमें अनगिनती तरह की चीजें दिखाई पड़ती हैं। लगता ऐसा है कि सब अलग-अलग हैं, किसीसे किसीका कोई सम्बन्ध नहीं। लेकिन ग्रीक-पण्डितों ने यह साबित किया कि असल में बात ऐसी नहीं है। भली तरह विचार करने से पता चलता है कि इन अनगिनती चीज़ों के मूल में एक ही सत्य है। उनके मत से वही परम सत्य है। हम लोग जो इतनी-इतनी चीज़ें देखते हैं, अन्त तक वे सब उसी परम सत्य के विकास हैं। तो मतलब यह निकला कि उनके आगे प्रधान समस्या उसी सत्य को आविष्कार करने की रही। दुनिया की इन अनगिन चीज़ों की उत्पत्ति किससे हुई।

थैलिस ने बताया, वह परम सत्य पानी है—पानी से ही सब-कुछ पैदा होता है फिर पानी में ही सब-कुछ विलीन हो जाता है।

थैलिस के एनेक्सिमेण्डर नाम के एक शिष्य थे। वे, लेकिन

लोनिया या और-और देशों में—थेलिस ने न केवल उन सबको जमा किया, जाना, बल्कि अन्धविश्वास को छोड़कर निर्मल बुद्धि से उन पर विचार किया, साफ-साफ उन्हें समझाने की कोशिश की।

इतना अवश्य है कि आज के मुकाबले प्राचीन काल के लोगों का यह अनुभव निहायत सँकरा था। तब के लोगों को दुनिया की खबर थी भी कितनी? प्रकृति के बारे में उन्हें जानकारी हुई भी कितनी थी? उन्होंने देखा ही कितना था, समझा ही कितना था? बेशक कुछ ज्यादा नहीं। इसलिए आज हमें थेलिस की बात निहायत मोटी मालूम होती है। ऐसा लगता ही नहीं कि यह किसी पण्डित की बात है।

लेकिन जिस बात का गौरव थेलिस का है, उसे याद न रखने से भूल होगी।

कैसा गौरव? सत्य की खोज में मनुष्य ने जो यात्रा शुरू की, उसमें थेलिस ने युगान्तर ला दिया। उन्होंने लोगों के लिए एक नई राह निकाली।

कौन-सी राह? जितना कुछ के बारे में मनुष्य को सच्चा अनुभव हो रहा है, उतने का ही निर्मल बुद्धि से विचार करके पूरी दुनिया की व्याख्या खोजने की कोशिश यह करेगा। पौराणिक कल्पना के भार से मनुष्य का मन झुका नहीं रहेगा। नित-नये अनुभव को और भी अच्छे-से-अच्छे तरीके से विचार करते-करते मनुष्य सत्य को धीरे-धीरे और ज्यादा पहचानेगा।

चूँकि थेलिस ने इस नई राह का पता दिया, इसलिए यूरोप के इतिहास में उन्हें पहला दार्शनिक कहा गया।

पियेगोरस पंथियों की बात

पहले युग के बाद यह देखा गया कि ग्रीक-दार्शनिकों की विचार-धारा मिलेसीय लोगों की लीक छोड़कर नई राह पर चल पड़ी है। मिलेसीय दार्शनिकों में आपसी मतभेद चाहे जितना भी रहा हो, एक बात में समानता थी कि उन सबने जड़-जगत् को सत्य मान लिया था और उसके मूल में जड़-प्रकृति की ही किसी एक दिशा को चरम सत्य मान लिया था। लेकिन उनके बाद ग्रीक-दर्शन के मंच पर जो लोग आए, जड़ जगत् को वैसा सत्य उन्होंने नहीं कबूल किया। उन्होंने यह सोचना आरम्भ कर दिया कि आंखो देखकर जो बातें सत्य लगती हैं, उनसे सत्य वे बातें हैं जो सोच-विचारकर, दिमाग और बुद्धि लड़ाकर सामने आती हैं। यानी दार्शनिको में आंखों-देखी बात पर विश्वास घटता गया—उसकी जगह बुद्धि लगाने पर आस्था पैदा हुई। नतीजा यह निकला कि दूसरे युग का ग्रीक-दर्शन धीरे-धीरे अवास्तव हो उठा।

दिमाग लड़ाना क्या मामूली बात है? बुद्धि और विचार से सत्य को ढूंढ़ने की कोशिश क्या गलत है? नही। इसमें शक नहीं कि सत्य की खोज में बुद्धि मनुष्य की बहुत बड़ी मददगार हुई। दिमाग़ लगाना बहुत सहायक हुआ। लेकिन हम अगर यह सोचें कि आंख-कान बन्द करके केवल दिमाग़ लड़ाकर ही हम सत्य का आविष्कार कर लेंगे; या हम अगर यह सोचें कि दुनिया के बारे में हमारे जो अनुभव हैं, वे निरे थोथे हैं, उनके बदले हम केवल बुद्धि लड़ाकर, दिमाग खपाकर ही सत्य को ढूढ़ निकालेंगे, तो हमारी यह कोशिश एकतरफा

अपने गुरु की हां में हां नहीं मिला सके। बहुत सोच-विचार के बाद वे इस फैसले पर पहुंचे कि पानी को परम सत्य मानना भूल है। क्योंकि गुरू में पानी नहीं था। प्रकृति की एक प्रलय-अवस्था गुरू में थी, जिसका कोई आदि नहीं था, सीमा नहीं थी, शक्ल नहीं थी—कुछ नही था। प्रकृति अव्यक्त, अचेतन, सीमाहीन, निर्विकार थी। उसीसे रूप और रस, शब्द और गन्ध से भरी-पूरी इतनी-इतनी चीजें धीरे-धीरे पैदा हुईं।

यहां एक बात गौर करने की है। एनेक्सिमेण्डर ने थेलिस की तरह पानी को परम पदार्थ जरूर नहीं माना, पर एक ओर से उनका मत भी हूबहू वैसा ही है। दुनिया की सृष्टि के लिए उन्होंने किसी स्रष्टा, किसी देवता की कल्पना नहीं की। उन्होंने भी सब-कुछ का जन्म जड़-वस्तु से ही माना, केवल वह जड़-वस्तु पानी को नहीं माना, माना उसके बदले प्रकृति की एक सीमाहीन, रूपहीन आदिम प्रलय-अवस्था को।

एनेक्सिमेण्डर के बाद एनेक्सिमेनिस। उन्होंने कहा—सृष्टि का मूल पानी नहीं है, न ही आदिम और निर्विकार प्रकृति है। है हवा। वायु। वायु ही परम सत्य है। मगर वायु भी जड़-वस्तु है। यह न कोई आध्यात्मिक चीज है, न अलौकिक।

ग्रीक-दर्शन का पहला अध्याय यहीं समाप्त हुआ। ऊपर जिन तीन दार्शनिकों का ज़िक्र किया गया, वे सब मिलेटस शहर के थे। इसीलिए ग्रीक-दर्शन में पहले अध्याय का नाम पड़ा मिलेशीय पर्व।

पिथेगोरस पंथियों की बात

पहले युग के बाद यह देखा गया कि ग्रीक-दार्शनिकों की विचार-धारा मिलेसीय लोगों की लीक छोडकर नई राह पर चल पड़ी है। मिलेसीय दार्शनिकों में आपसी मतभेद चाहे जितना भी रहा हो, एक बात में समानता थी कि उन सबने जड़-जगत् को सत्य मान लिया था और उसके मूल मे जड़-प्रकृति की ही किसी एक दिशा को चरम सत्य मान लिया था। लेकिन उनके बाद ग्रीक-दर्शन के मंच पर जो लोग आए, जड़ जगत् को वैसा सत्य उन्होंने नहीं कबूल किया। उन्होने यह सोचना आरम्भ कर दिया कि आंखों देखकर जो बातें सत्य लगती है, उनसे सत्य वे बातें हैं जो सोच-विचारकर, दिमाग और बुद्धि लड़ाकर सामने आती हैं। यानी दार्शनिकों में आखों-देखी बात पर विश्वास घटता गया—उसकी जगह बुद्धि लगाने पर आस्था पैदा हुई। नतीजा यह निकला कि दूसरे युग का ग्रीक-दर्शन धीरे-धीरे अवास्तव हो उठा।

दिमाग लड़ाना क्या मामूली बात है? बुद्धि और विचार से सत्य को ढूंढ़ने की कोशिश क्या ग़लत है? नही। इसमें शक नहीं कि सत्य की खोज में बुद्धि मनुष्य की बहुत बड़ी मददगार हुई। दिमाग़ लगाना बहुत सहायक हुआ। लेकिन हम अगर यह सोचें कि आंख-कान बन्द करके केवल दिमाग़ लड़ाकर ही हम सत्य का आविष्कार कर लेंगे; या हम अगर यह सोचें कि दुनिया के बारे में हमारे जो अनुभव हैं, वे निरे थोथे हैं, उनके बदले हम केवल बुद्धि लड़ाकर, दिमाग खपाकर ही सत्य को ढूंढ़ निकालेंगे, तो हमारी यह कोशिश एकतरफ़ा

अपने गुरु की हां में हां नहीं मिला सके। बहुत सोच-विचार के बाद वे इस फैसले पर पहुंचे कि पानी को परम सत्य मानना भूल है। क्योंकि शुरू में पानी नहीं था। प्रकृति की एक प्रलय-अवस्था शुरू में थी, जिसका कोई आदि नहीं था, सीमा नहीं थी, शक्ल नहीं थी—कुछ नहीं था। प्रकृति अव्यक्त, अचेतन, सीमाहीन, निर्विकार थी। उसीसे रूप और रस, शब्द और गन्ध से भरी-पूरी इतनी-इतनी चीजें धीरे-धीरे पैदा हुईं।

यहां एक बात गौर करने की है। एनेक्सिमेण्डर ने थेलिस की तरह पानी को परम पदार्थ जरूर नहीं माना, पर एक ओर से उनका मत भी हूबहू वैसा ही है। दुनिया की सृष्टि के लिए उन्होंने किसी स्रष्टा, किसी देवता की कल्पना नहीं की। उन्होंने भी सब-कुछ का जन्म जड़-वस्तु से ही माना, केवल वह जड़-वस्तु पानी को नहीं माना, माना उसके बदले प्रकृति की एक सीमाहीन, रूपहीन आदिम प्रलय-अवस्था को।

एनेक्सिमेण्डर के बाद एनेक्सिमेनिस। उन्होंने कहा—सृष्टि का मूल पानी नहीं है, न ही आदिम और निर्विकार प्रकृति है। है हवा। वायु। वायु ही परम सत्य है। मगर वायु भी जड़-वस्तु है। यह न कोई आध्यात्मिक चीज है, न अलौकिक।

ग्रीक-दर्शन का पहला अध्याय यहीं समाप्त हुआ। ऊपर जिन तीन दार्शनिकों का जिक्र किया गया, वे सब मिलेटस शहर के थे। इसीलिए ग्रीक-दर्शन के पहले अध्याय का नाम पड़ा मिलेसीय पर्व।

हो गईं। साधारण जीवन से चूंकि वे दूर हट गए इसलिए जीवन के स्वाभाविक अनुभव उनके लिए कोई बड़ी बात नहीं रहे। यहां तक कि वे जो बातें कहने लगे, उन्हें सुनकर समझना मुश्किल था, बुझौवल-जैसी लगती।

आखिर वे कैसी बातें करते थे? जैसे, उन्होंने कहा, संख्या ही परम सत्य है, संख्या ही चरम सत्ता है। इसका मतलब क्या हुआ? मतलब क्या हुआ, यह जोर देकर कहना कठिन है। पिथेगोरस पंथियों की लिखी छिटपुट जो बातें बिखरी मिलती हैं, या उनके बारे में पुराने समय के दूसरे पंडितों ने जो-कुछ लिखा है, वह समझ में नहीं आता, रहस्यमय है। लेकिन आज के कुछ पंडित बहुत मगजपच्ची करके उन बातों का कुछ मतलब बताने की कोशिश कर रहे हैं।

किस तरह का मतलब बताते हैं? बता रहे हैं। मगर सुनने-भर से काम नहीं चलने का। उसके लिए दिमाग खपाने की जरूरत पड़ेगी।

पहले तो यह सोच देखिए कि संख्या नाम की कोई चीज आंखों देखी जा सकती है या कानों सुनी जा सकती है? या संख्या के बारे में हमें किसी तरह का अनुभव हो सकता है? किसी भी तरह नहीं। मसलन हमने दो गायें देखीं। चार आदमी देखे। क्या देखा हमने? गाय या आदमी। लेकिन केवल 'दो' या केवल 'चार' को देखना भी मुमकिन है क्या? नहीं। अगर उसी को कागज़ पर लिख डालें—२ या ४ तो हकीकत में यह संख्या नहीं होगा, होगा केवल संख्या का

नहीं हो जाएगी ?

बुद्धि को छोटी समझने की जरूरत नहीं है। मगर बुद्धि को बड़ा मानकर आंखों-देखी बात को अगर उड़ा देना चाहें तो भूल होगी।

ग्रीक-दर्शन के दूसरे अध्याय में दार्शनिकों की कोशिश ऐसी ही एकतरफ़ा हो गई।

मिलेसीयों के बाद पिथेगोरस पंथियों की बात। पिथेगोरस-पंथी के माने ? पिथेगोरस पंथी माने दार्शनिकों का एक दल, संप्रदाय। इस दल के जो प्रधान या गुरु हुए, उन्हींका नाम था पिथेगोरस। उन्हींके नाम पर दल का ऐसा नाम पड़ा।

ये क्या सोचते या कहते थे, यह कहने के पहले उनका हालचाल कह लें। हालचाल में मिलेसीयों से इनका बड़ा अन्तर था। मिलेसीय दार्शनिक काम-काज की हलचल वाले शहर के व्यस्त आदमी थे। थैलिस की जीवनी के बारे में जो छिटपुट बातें जानी जाती हैं, उनसे यह पता चलता है कि व्यापार के जगमगाते केन्द्र मिलेटस शहर के वे खुद भी एक व्यापारी थे। कुएं के मेढक नहीं थे. व्यापार के लिए इस देश से उस देश जाते थे—मिलेटस से मिस्र, मिस्र से मेसोपोटामिया।

इसीलिए मिलेसीय दार्शनिकों का जीवन से योग था। पिथेगोरस पंथियों की बात ही दूसरी थी। वे साधारण जीवन से कटकर अपने लिए अलग मठ तैयार करने लगे। उन्हीं मठों में बैठकर दिमाग़ लड़ाकर वे सत्य का आविष्कार करते थे। नतीजा यह निकला कि उनकी सत्य की खोज गुप्तविद्या

हो गई। साधारण जीवन से चूंकि वे दूर हट गए इसलिए जीवन के स्वाभाविक अनुभव उनके लिए कोई बड़ी बात नहीं रहे। यहां तक कि वे जो बातें कहने लगे, उन्हें सुनकर समझना मुश्किल था, बुझौवल-जैसी लगती।

आखिर वे कैसी बातें करते थे? जैसे, उन्होंने कहा, संख्या ही परम सत्य है, संख्या ही चरम सत्ता है। इसका मतलब क्या हुआ? मतलब क्या हुआ, यह जोर देकर कहना कठिन है। पिथेगोरस पंथियों की लिखी छिटपुट जो बातें बिखरी मिलती हैं, या उनके बारे में पुराने समय के दूसरे पंडितों ने जो-कुछ लिखा है, वह समझ में नहीं आता, रहस्यमय है। लेकिन आज के कुछ पंडित बहुत मगजपच्ची करके उन बातों का कुछ मतलब बताने की कोशिश कर रहे हैं।

किस तरह का मतलब बताते हैं? बता रहे है। मगर सुनने-भर से काम नहीं चलने का। उसके लिए दिमाग खपाने की जरूरत पड़ेगी।

पहले तो यह सोच देखिए कि संख्या नाम की कोई चीज आंखों देखी जा सकती है या कानों सुनी जा सकती है? या संख्या के बारे में हमें किसी तरह का अनुभव हो सकता है? किसी भी तरह नहीं। मसलन हमने दो गायें देखीं। चार आदमी देखे। क्या देखा हमने? गाय या आदमी। लेकिन केवल 'दो' या केवल 'चार' को देखना भी मुमकिन है क्या? नहीं। अगर उसी को कागज पर लिख डालें—२ या ४ तो हकीकत में यह संख्या नहीं होगा, होगा केवल संख्या का

चिन्ह। मान लीजिए, एक लकीर खींचकर हम कहें कि यह हुई बिल्ली और दूसरी खींचकर कहें, मान लीजिए यह हुआ चूहा, तो वे लकीरें तो वास्तव में बिल्ली या चूहा नहीं बन जाएंगी। होगा भी तो बिल्ली या चूहे का चिन्ह होगा। ठीक इसी तरह कागज पर २ लिख देने से वह संख्या नहीं होगा, संख्या का चिन्ह होगा। चिन्ह और तरह का भी हो सकता है। जैसे दो का चिन्ह २,][या २ हो सकता है। या ४ की बात ली जाए। यह चिन्ह काहे का है? हम इसे 'चार' संख्या का चिन्ह कहेंगे और अंग्रेज लोगों को इससे आठ का भ्रम होगा। इसका मतलब यह हुआ कि सही कोई संख्या नहीं है—संख्या को समझने का एक चिन्ह-भर है।

लेखा लगाते समय हम संख्या की बात करते हैं। मगर उस संख्या को आंखों देखने का कोई उपाय नहीं है। इसी-लिए संख्या को समझने के लिए हम एक-एक अंक का व्यवहार करते हैं। देश-देश में यह चिन्ह अलग-अलग होता है।

अगर ऐसा है तो संख्या तो बड़े मजे की चीज है। इन्हें आंखों नहीं देखा जा सकता, इंद्रियों से नहीं जाना जा सकता। फिर भी इन पर दिमाग लगाया जाता है, सोचा जाता है, विचारा जाता है।

अब विचारिए कि कोई अगर संख्या को ही परम सत्य बतलायें तो उनके कहने का मतलब कैसा होगा? दुनिया को देखकर, इन्द्रियों के सहारे जो कुछ देखा-जाना जाता है वह सच्ची सत्य नहीं है। अगर सत्य को जानने के लिए अनुभव को त्यागकर केवल दिमाग लड़ाकर, सोचकर ही आगे बढ़ें

की कोशिश करनी पड़ेगी। इन्द्रियों के ज़रिये धरती के जो अनुभव होते हैं, वही असल सत्य नहीं हैं। निर्मल विवेक से, केवल दिमाग़ से अगर दुनिया को समझने की कोशिश करे, तभी समझ पाना सभव है। इस तरह वास्तविक अनुभव को उड़ा देने के कारण पिथेगोरस पथियों का मत एकांगी और आखिर में बेमानी हो गया। किसी ने कहा, न्याय=४ है तो किसी ने कहा न्याय=५ है। ऐसी ही और भी बातें।

इससे सत्य की खोज पाना दूर रहा, हमारे लिए यह समझना भी कठिन हो गया कि ऐसे रहस्यमय गणित का सिर-पैर भी है या नहीं।

इलियाटिकों की बात

ग्रीक दार्शनिकों के खयाल से यह बात ही धीरे-धीरे मिटती चली गई कि कामकाज के लोग अपने अनुभव से दुनिया को जानते हैं। पिथेगोरस पंथियों के बाद जो ग्रीक दार्शनिक सामने आए, उनको इलियाटिक कहते हैं। इसलिए कि वे इलिया शहर के बाशिंदे थे। इनमे से ज्यादा नाम तीन दार्शनिकों का था—जेनोफेनिस, परमानाइडिस और जेनो। इनकी अपनी जो मूल बात थी कहने की, उसका आरम्भ परमानाइडिस ने किया। उसीको और अच्छी तरह से सजा-गुजाकर, समझाकर जेनोफिस ने कहा और उसकी सफाई की जोरदार दलीलें जेनो ने निकाली।

उनका कहना आखिर क्या था? संक्षेप में यही कि यह संसार माया या मिथ्या है। परम सत्य जो है, वह है निर्गुण,

अद्वितीय। बहुत कुछ वैसा ही, जैसा कि हमारे यहां के कोई-कोई दार्शनिक कहते थे—ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या। अब यह देखिए कि अनुभव के वास्तव जगत् को कुछ न मानने की जो कोशिश पिथेगोरस पंथियों ने की थी, अन्त तक इलियाटिक दर्शन में वह कहां जा पहुंची।

किन्तु देखना यह है कि संसार को सरासर मिथ्या या माया उन्होंने कैसे साबित करना चाहा। इसके लिए उन्होंने दलीलें क्या दी, प्रमाण क्या दिये? इसका परिचय इस दल के सबसे छोटे दार्शनिक जेनो मे पाया जाता है।

जेनो ने कहा, गौर से देखने पर पाएंगे कि संसार को मिथ्या कहे बगैर उपाय नहीं है। हम पूछेंगे, गौर से देखने का क्या मतलब है? जेनो ने बताया, दो-एक मिसाल लें, आप ही समझ में आ जाएगा।

दुनिया के बारे में हमारे जो अनुभव हैं, उनकी एक मूल बात है गति या परिवर्तन। वस्तुएँ हिलती-डुलती हैं, बदलती हैं, पैदा होती और बढ़ती है, मरती है। इसी का नाम है गति, परिवर्तन। एक खरगोश इधर से उधर को दौड़ गया। आंखों से देखा। क्या? गति। एक सुकुमार बच्चा बड़ा हुआ, बूढ़ा हुआ—नज़र से देखा। क्या? परिवर्तन—हेरफेर।

जेनो ने बताया, आंखों से तो देखा, पर आंखों देखने से ही तो नहीं होता। सोचकर देखना भी जरूरी है। दिमाग़ से, अक़्ल से भी समझने की कोशिश करनी चाहिए कि जो देखा, वह सत्य है या मिथ्या।

और सोचने से ही पता चलता कि आंखों से देखने के बावजूद

गति या परिवर्तन नाम की चीज़ सच नहीं हो सकती। आंखों-देखे परिवर्तन के कुछ नमूनों का जेनो ने विचार किया है और प्रमाणित करना चाहा है कि विचार करने से उसे सत्य मानने की गुंजाइश नहीं।

जैसे, किसी ने धनुष से तीर मारा। तो क्या नज़र आया? नज़र आया कि सनसनाता हुआ एक तीर निकल गया। क्या गति उसकी! कहते भी हैं तीर की गति! जेनो ने कहा, यह जो गति या वेग या परिवर्तन आंखों देखते है, सोच देखना होगा, वह सत्य भी हो सकता है कि नहीं? जेनो की राय में यह सत्य नहीं हो सकता। क्योंकि—

जब तीर को दौड़ते देखा, तब के समय को कई क्षणों में बांट लीजिए। फिर उन मुहूर्तों में से किसी एक मुहूर्त की बात सोचिए। मानना ही होगा, उस मुहूर्त में तीर कहीं-न-कहीं रहा था। और केवल इतना ही? उस मुहूर्त में तीर क्या केवल वहीं रहा? अगर यही होता, तो बाद के क्षण में तीर बाद की जगह में कैसे जाता? इसके मानी यह हुआ कि इस क्षण अगर तीर यहां है, तो इसी क्षण वह इस जगह को छोड़कर दूसरी जगह जाने लगा है। वरना दूसरे क्षण उसका दूसरी जगह पहुंचना नहीं हो सकता।

इस तरह एक ही साथ दो बातें माननी पड़ेंगी। अभी तीर यहां है और अभी ही इस जगह को छोड़कर चल पड़ा है। जगह को छोड़कर चल देने का मतलब ही हुआ उस जगह नहीं रहना। इसलिए अगर आप गति को कबूल किए लेते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि इसी क्षण यहां तीर है भी और नहीं भी है।

'है' और 'नहीं है' इन दोनों बातों में विरोध है। एक दूसरे को काट देती है। दोनों बातों में द्वंद्व है।

यानी गति को सत्य मानना के मानी ही दो परस्पर-विरोधी बातों को द्वंद्व को एक ही साथ सत्य मान लेना। जेनो ने बताया, लेकिन वास्तव में यह हो तो नहीं सकता। और चूंकि ऐसा हो नही सकता, इसलिए गति को सत्य का मान भी नहीं दिया जा सकता।

गति या परिवर्तन सत्य नहीं हो सकता, उसे समझाने के लिए जेनो ने और भी युक्ति दी है। केवल गति ही क्यों, दुनिया में हमें तरह-तरह की चीजें देखने को मिलती हैं, अनेक, अजीब-अजीब चीजें। यह जो विविधता है, बहुता है, यह क्या सत्य है ? जेनो ने यह भी साबित कर दिखाना चाहा कि यह भी सत्य नहीं। क्योंकि बहुता को हम सत्य मानें तो भी परस्पर-विरोधी बातों को साथ ही स्वीकार करना पड़ेगा।

इधर गति और विविधता ही अनुभव से जाने जानेवाले जगत की खास बात है। और यही दोनों अगर मिथ्या हैं तो अनुभव से हम जगत को जिस रूप में जानते हैं, उसे भी झूठा मानना होगा।

इलियाटिकों की राय में यह जगत मिथ्या है, माया है। जगत अगर मिथ्या है तो सत्य क्या है ? ऐसी कोई चीज जो कि एक है, जिससे बहुता या विविधता का कोई सरोकार ही नहीं। ऐसा कुछ, जिससे गति का कोई सरोकार नहीं, जिसका परिवर्तन नहीं। यानी वही, जैसा कि हमारे यहां के किन्हीं-किन्हीं दार्शनिक ने कहा—निर्गुण, निर्विकार एक अद्वितीय

ब्रह्म ही केवल सत्य है।

हेराक्लाइटस

मगर सचमुच ही क्या यही बात है ? सच ही क्या गति झूठ है, यह संसार मिथ्या है जिसे हम अपनी आंखों देखा करते हैं ?

दूसरे एक पंडित ने कहा, नहीं। इलियाटिको की यह बात ग़लत है।

जिन्होंने कहा, उनका नाम है हेराक्लाइटस। सत्य की खोज में इलियाटिक लोग एक अवास्तविक कल्पना पर पहुंच गए थे। हेराक्लाइटस ने उनका तीखा विरोध किया।

हेराक्लाइटस ने कहा—हमारे गुरु हैं हमारी आंख और हमारे कान। अगर ज्ञान हासिल करना है, तो अपनी आंखों को खुला रखें, कान खड़ा रखें। प्रकृति के कंठ की बोली सुनकर ही उसके रहस्य को जानना होगा। लेकिन केवल सुनने से ही काम नहीं चलने का, समझना भी होगा। आंख-कान की गवाही को उड़ाया भी तो नहीं जा सकता। मगर अगर मन जगा हुआ न हो तो आंख-कान की गवाही पकड़ में भी नहीं आ सकती। प्रकृति के रहस्य को प्रकृति से ही जानना है, वह उसे छिपाना चाहती है, हम उसे ढूंढ़ निकालना सीखेंगे।

जो लोग हेराक्लाइटस के पास ज्ञान सीखने आते थे, वे उनकी बातें सुन-सुनकर दंग रह जाते थे। कुछ तो समझते, कुछ नहीं समझते। आमलोग जैसा सोचा करते हैं, जैसी बातें करते हैं, हेराक्लाइटस तो वैसे नहीं सोचते, वैसी बातें नहीं

करते। साधारण लोगों के खयालों को मानो वे एकबारगी पलट देना चाह रहे हों। जाने क्या-क्या तो लिखते—जो कुछ लिखते, उसे समझना मुश्किल। अपनी लिखी हुई पोथियों को उन्होंने देवी आर्टेमिस के मन्दिर में रख दिया। जो इन पर सोचेगा, वह समझेगा।

हेराक्लाइटस ने कहा, प्रकृति को आंखें खोलकर देखना चाहिए, मन लगाकर समझना चाहिए। देखिए, चारों ओर एक अविराम प्रवाह है। प्रवाह के सिवा और क्या है? हर क्षण सब-कुछ बदल रहा है। जो था, वह नहीं है। जो है, वह नहीं रहेगा। केवल गति और गति, केवल परिवर्तन-परिवर्तन की इस अपार बाढ़ में पृथिवी बहती जा रही है।

आप कहेंगे, वही तो वहां नही है। नदी में रोज नहाने जाते हैं। वही नदी, वही नदी जो कल थी और जो कल भी रहेगी। हेराक्लाइटस ने कहा—मगर वही नदी कहां है? आंख खोलकर देखिए, मन से सोचिए, पाएंगे कि एक ही नदी में आप दो डुबकियां भी नहीं लगा सकते। जिस पानी में आपने अभी डुबकी लगाई, वह पानी तो बह निकला। गोता लगाकर बाहर आते ही आप पाएंगे, नदी अब वह नदी नहीं रही! बदल गई। दूसरी हो गई। इसीलिए एक ही नदी में आप दो बार गोता नहीं लगा सकते। हर क्षण नदी बदलती जा रही है, नई नदी होती जा रही है।

हेराक्लाइटस ने कहा—आंखों से देखिए, हृदय से विचारिए पाएंगे कि सब कुछ उस नदी के ही समान है। और तो और, आसमान का वह सूरज—रोज सवेरे नया-नया सूरज—एक

ही सूरज नहीं है।

हेराक्लाइटस ने कहा—दुनिया का कुछ भी थिर नही है। शान्ति नही, विराम नहीं—कही भी नही। आंख खोलकर देखिए। मन लगाकर समझिए। सग्राम ही सग्राम है। लड़ाई ही लड़ाई है। अविराम युद्ध, अविराम द्वंद्व। सब कुछ में, हर जगह, हर घड़ी संघर्ष चल रहा है। जन्म और मरण, मरण और जन्म। हरदम। सब कुछ में, हर जगह, हर घड़ी। एक ओर जन्म, एक ओर मृत्यु। जन्म-मृत्यु का यह द्वंद्व हर जगह, हर घड़ी जारी है।

इसलिए स्थिर कुछ भी नहीं है, शान्त कुछ भी नही है। कहीं नहीं। सब जैसे आग की लौ-सा है। आग की लौ से ही सब कुछ बना है। आग और आग। बीच-बीच में यह लौ लपटें लेती है और बीच-बीच में बुझ जाती है।

हेराक्लाइटिस कहते गए—सब आग-ही-आग है। आग से ही पानी, आग से ही हवा, आग से ही धरती। आग की लौ को देखिए। अभी-अभी जो लौ थी, अभी-अभी वह लौ नहीं है। अभी-अभी जो लौ है, अभी-अभी वह नही रहेगी। हर क्षण लौ मरती है, हर क्षण नई पैदा होती है। उसके एक ओर जन्म है, एक ओर मरण। आग की लौ में जन्म-मरण का यही द्वंद्व है। और लौ ही क्यों, सब का यही हाल है। सब मानो आग की लौ है।

सुननेवाले हेराक्लाइटस की बातों पर दंग रह जाते। कुछ तो वे समझते, कुछ नहीं समझ पाते। घर लौटते, तो उनकी आंखों के आगे आग की लौ लपलपाती, कभी भभक उठती,

कभी बुझ आती। यह लौ नित-नवीन है। उनके कानों में एक ही बात गूंजती रह जाती—आंख खोलकर देखिए, मन से समझिए। केवल जन्म और मृत्यु। गति और गति। द्वंद्व और संग्राम। सनातन नाम की कोई चीज नहीं, शान्त कुछ भी नहीं, विराम कुछ नहीं।

गति और स्थिति—सत्य और सनातन

इलियाटिकों की चर्चा कुछ बढ़ाकर की। हेराक्लाइटस की भी बात ज्यादा कही। मगर सभी ग्रीक दार्शनिकों पर इतना कहने का सुयोग नहीं। मगर इन दो मतों पर ज्यादा कुछ कहने की जरूरत भी थी। क्योंकि बाद में ग्रीक-दर्शन में जो समस्या बड़ी होकर सामने आई, उसे समझने के लिए इलियाटिकों से हेराक्लाइटस का भेद भली तरह समझना जरूरी है।

समस्या क्या आई? स्थिति सत्य है कि गति? सत्य सनातन है या नित बदलने वाला?

इलियाटिकों ने क्या साबित करना चाहा था? गति या परिवर्तन सत्य नहीं हो सकता। हम देखते हैं, दुनिया बदल रही है। किन्तु यह देखना भूल है। भूल देखना है। ठीक से अगर देखें तो समझेंगे कि परिवर्तन जो दीखता है, वह निहायत झूठ है, मिथ्या है। क्यों? क्योंकि उसे अगर मान लें तो दो परस्पर-विरोधी बातों को एक ही साथ सत्य मानना पड़ेगा। 'है' और 'नहीं है'—दोनों बातें सत्य होंगी। एक-ही-से सत्य, एक ही विषय के बारे में सत्य—ऐसा भी कोई कह सकता है?

हो भी कैसे सकता है ? एक बात दूसरे को काट देती है।

लेकिन हेराक्लाइटस ने क्या कहा ? ठीक इसका उलटा कहा। कहा, गति ही परम सत्य है। सनातन का खयाल बिलकुल गलत है। गलत क्यों ? हेराक्लाइटस ने बताया, आंखें खोलकर देखिए, मन से समझिए—प्रकृति के कण्ठस्वर से ही उसके रहस्य का आविष्कार करना होगा। प्रकृति पर गौर करें, तो क्या देखेंगे ? देखेंगे कि अविराम गति है—नदी के प्रवाह के समान। आग की लौ के समान। किन्तु इस पर इलियाटिकों ने क्या कहा ? कहा कि गति को मानिए तो एक ही साथ दो विरोधी बातों को कबूल करना पड़ेगा। हेराक्लाइटस ने बताया, मानना तो पड़ेगा ही। क्योंकि वह विरोध ही सत्य है, द्वन्द्व ही सत्य है—सत्य है केवल जन्म और मृत्यु का अविराम संग्राम।

तो गति सत्य है कि स्थिति ?

एमपिडोक्लिस, डिमोक्रिटस, एनेक्सागोरस

बाद के तीन पण्डितों ने दर्शन की इसी समस्या का हल निकालने की चेष्टा की। इन तीनों पण्डितों के नाम हैं—एमपिडोक्लिस, डिमोक्रिटस, एनेक्सागोरस। एक तरह से यों कहा जा सकता है कि इलियाटिक और हेराक्लाइटस के मतों में संगति लाने की चेष्टा इन्होंने की। इलियाटिकों का कहना था, स्थिति ही सत्य है। हेराक्लाइटस का कहना था, गति ही सत्य है। इन तीनों ने यह दिखाने की कोशिश की कि स्थिति और गति, दोनों ही सत्य हैं। यानी गति को भी भूल

नहीं कहा जा सकता, स्थिति को भी नहीं। दोनों को मिलाने से ही सत्य तक पहुंचा जा सकता है।

आखिर यह मेल बैठाया कैसे जाए? एक के बाद दूसरे फिर तीसरे ज्ञानी ने तीन तरह से कोशिश की। कैसी कोशिश? पहले इसी को देखें। फिर बाद में देखेंगे कि वे स्थिति और गति की समस्या का हल निकाल भी पाए?

पहले एमपिडोक्लिस को लें। उन्होंने कहा—दुनिया के सब कुछ में चार तरह के मौलिक पदार्थ हैं—क्षिति, अप्, तेज, मरुत—यानी माटी, पानी, आग और हवा। इनका न तो जन्म होता है, न मृत्यु। सो इन सबको सनातन कहना होगा। मगर सनातन को स्वीकार कर लेने से ही क्या गति को उड़ा देना पड़ेगा? नहीं। एमपिडोक्लिस के मुताबिक इन सनातन पदार्थों के सिवाय भी सृष्टि में दो प्रकार की शक्ति है—प्रेम और घृणा, मिलन और विछोह, मिताई और द्वन्द्व। आदिम पदार्थों में ये दो विरोधी शक्तियां गति का संचार करती हैं। इससे वे चारों आदिम पदार्थ तरह-तरह का रूप ग्रहण करते हैं। अवश्य यह ठीक-ठीक समझना मुश्किल है कि प्रेम और घृणा नाम की दो शक्तियों से एमपिडोक्लिस का मतलब क्या था। उनकी जो छिटपुट बातें पाई जाती हैं, उनसे लगता है कि ये दोनों शक्तियां चौदह आने तो कवि की कल्पना-सी हैं, पौराणिक कहानी-जैसी।

उसके बाद डिमोक्रिटस। उन्होंने कहा, आदिम पदार्थ चार तरह के नहीं हैं। उनकी जगह हैं अनगिनती परमाणु। हां, ये परमाणु अजर, अमर, सनातन हैं। मगर यह दुनिया

क्या केवल उन परमाणुओं का ही ढेर है ? नहीं। क्योंकि परमाणुओं में अगरचे कोई परिवर्तन नही होता, फिर भी उनके सम्बन्ध में तरह-तरह का हेरफेर चलता है। परमाणुओं के एक-एक तरह के आपसी सम्पर्क से एक-एक तरह की चीज होती है। यानी उनका एक सम्बन्ध बदलकर दूसरा दिखाई पड़ता है। ऐसा कैसे सम्भव होता है ? परमाणुओं का सम्पर्क कैसे बदल जाता है ? डिमोक्रिटस ने बताया, इसके मूल में एक शक्ति है। उस शक्ति का नाम है नियति। तो एमपिडोक्लिस से डिमोक्रिटस का फर्क कहां हुआ ? फर्क वहां है, जहा एमपिडोक्लिस के चार प्रकार के आदिम पदार्थ की जगह डिमोक्रिटस ने अनगिनती परमाणु की बात बताई; दो तरह की शक्ति—प्रेम और घृणा—के बजाय डिमोक्रिटस ने एक शक्ति—नियति या होनी—की बात बताई। मगर ऐसे दोनों में बहुत ज्यादा अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों की कोशिश एक ही है। वह है सनातन से गति को मिलाने की कोशिश।

डिमोक्रिटस के बाद एनेक्सागोरस। उनकी भी असली कोशिश यही रही कि स्थिति से गति का मेल बैठाया जाए। मगर इसके हल के लिए उन्होंने जो बातें कहीं, वे और तरह की हैं। उन्होंने न तो चार तरह के मौलिक पदार्थों की बात कही, न अनगिनती परमाणुओं की। उन्होंने कहा, आरम्भ में अव्यक्त प्रकृति थी। माटी, पानी, आग, हवा की तरह स्थूल नहीं। उसमें चेतना के लक्षण नहीं थे। और केवल अव्यक्त प्रकृति ही नहीं थी, उसके पास ही और एक सत्य था। उस सत्य को एनेक्सागोरस ने नउस कहा है। दुनिया में जहां

भी जिस चेतना का परिचय मिलता है, उद्देश्य, बुद्धि का परिचय पाया जाता है—वह सब नउस के ही कारण। इसलिए नउस से ही अव्यक्त प्रकृति में बुद्धि, चेतना और उद्देश्य का संचार हुआ। प्रकृति मूर्त हो उठी—उस पर नियम का भी राज हो गया। डिमोक्रिटस ने नियति नाम की जिस शक्ति के बारे में कहा है, वह निरी अचेतन, उद्देश्यहीन और अंधी है। उस अंधी शक्ति के सहारे वास्तव में दुनिया के रहस्य का हल नहीं निकाला जा सकता। इसलिए कि दुनिया नियमों का राज्य है। यहां जहां देखिए, उद्देश्य या बुद्धि का परिचय है।

ग्रीक-दर्शन में इलियाटिकों से हेराक्लाइटस के विरोध-स्वरूप जो समस्या खड़ी हुई थी, उसी का हल इन तीन दार्शनिकों ने ढूंढ़ा। स्थिति सत्य है या गति? समस्या यही थी। इलियाटिकों ने गति को गायब कर देना चाहा था। हेराक्लाइटस ने स्थिति को उड़ा देना चाहा था। इनके बाद के तीन दार्शनिकों ने तीन प्रकार से स्थिति और गति को मिलाने की कोशिश की।

लेकिन सवाल यह उठता है कि इन तीनों में से कोई भी क्या स्थिति और गति को बराबर मर्यादा दे सके? सोच देखें तो मालूम होता है, नहीं दे सके। इनकी सारी कोशिशों के बावजूद इनका विशेष ध्यान स्थिति पर, सनातन पर ही रहा। तीनों की दृष्टि में गति महज बाहरी व्यापार रही—चाहे एम्पिडोक्लिज की प्रेम-घृणा की बात लें, चाहे डिमोक्रिटस की नियति की बात और चाहे एनेक्सागोरस के उद्देश्य और बुद्धि की ही बात—ये सब आदिम पदार्थों का बाहरी व्यापार ही है।

उन पदार्थों में अपने में कोई गति नहीं, कोई परिवर्तन नहीं। परिवर्तन जो है भी, उसका जन्मस्थान कहीं और है।

यह मानो गोटियों का खेल है। गोटियों को आप हज़ारों प्रकार से सजा-गुजा सकते हैं। अलग-अलग सजावट के अनुसार वे देखने में अलग-अलग होंगे। मगर गोटियां वही की वही रहेंगी। बदलेंगी नहीं। गर्ज कि बदलना बाहरी है, फिज़ूल है, भूल नहीं, असली बात नहीं। इसलिए परिवर्तन को एकबारगी बाद तो नहीं किया गया, पर सत्य के दरबार में उसका आसन छोटा कर दिया गया।

चेतन-अचेतन की समस्या : सोफिस्ट, सुकरात, प्लेटो

एनेक्सागोरस के दर्शन में एक और नई समस्या उठ आई—चेतन और अचेतन के सम्बन्ध की समस्या।

चेतन और अचेतन के माने क्या है ? मिट्टी के लोंदे और एक आदमी में क्या फर्क है। मिट्टी के लोदे के आवाज़ नहीं होती, होश नहीं होता। वह न तो सोच सकता है, न विचार सकता है। इसलिए मिट्टी का लोंदा अचेतन है। मनुष्य को होशोहवास है, वह सोच सकता है, विचार सकता है, समझ सकता है। मनुष्य में चेतना है।

एनेक्सागोरस ने चेतन-अचेतन की कौन-सी नई समस्या उठाई ? इससे पहले ग्रीक दार्शनिकों में से किसी ने यह बात नहीं सोची थी कि सृष्टि के आदि में थी चेतना। चेतना से ही जगत् बना। उन सब का खयाल था, आदि में केवल अचेतन पदार्थ था। थेलिस से डिमोक्रिटस तक सबकी बात सोच

देखिए। थैलिस का कहना था, शुरू में पानी ही पानी था। पानी से ही सब-कुछ की सृष्टि हुई। पानी में तो चेतन नाम की कोई चीज नहीं। वह अचेतन है, जड़ है। मतलब यह हुआ कि शुरू में चेतन कुछ नहीं था। पहले केवल वस्तु ही थी। इसी तरह डिमोक्रिटस ने सोचा, शुरू में केवल परमाणु और नियति थी—इसलिए चेतना की कोई जगह नहीं होती। थैलिस से डिमोक्रिटस तक सभी दार्शनिकों की बावत एक ही बात रही।

सबसे पहले एनेक्सागोरस ने ही दूसरी बात उठाई। उन्होंने कहा, आरम्भ में, आदि में चेतना थी। चेतना को आदि कारण मानना होगा। अगर ऐसा नहीं मानते तो इस सवाल का जवाब नहीं मिल सकता कि केवल अन्ध और अचेतन वस्तु से यह दुनिया कैसे पैदा हुई।

एनेक्सागोरस से पहले ग्रीक-दर्शन की असली समस्या स्थिति और गति की थी। इन्होंने एक नई समस्या खड़ी की—चेतन और अचेतन का सम्बन्ध। पहले क्या थी? आदि में कौन थी? किसे मौलिक मानना पड़ेगा। और उन्होंने बताया, चेतना को आदि कारण मानना पड़ेगा। अवश्य शुरू में चेतना के सिवा अंधी प्रकृति भी थी। मगर चेतना ने ही उस गूंगी प्रकृति को भाषा दी। अंधी प्रकृति को नियम का राज्य बनाया। इनसे पहले ग्रीक-दर्शन में ऐसी बात किसी ने न कही थी।

इसके बाद कुछ दिनों तक ग्रीक दार्शनिकों के मुंह से चेतना की जय-जयकार होती रही। एनेक्सागोरस के बाद सोफिस्ट-दल, उसके बाद सुकरात, फिर प्लेटो—सब चेतना की प्रधानता

साबित करने पर तुल गए। कैसे, यही बताएँ।

एनेक्सागोरस ने चेतना को मौलिक माना। मगर यह चेतना ठीक किसकी चेतना है ? अगर भगवान की चेतना कहें, तो यह समझा जा सकता है, कुम्हार जैसे माटी के लोंदे से घड़ा तैयार करता है, वैसे ही भगवान ने भी अपनी चेतना से और अन्धी प्रकृति से दुनिया को बनाया था। किन्तु कठिनाई यह रही कि चेतना की चर्चा तो की, पर एनेक्सागोरस उसकी ठीक व्याख्या नहीं दे सके। वे सीधे-सीधे यह तो कह नहीं सके कि आदि में चेतना थी और वह चेतना भगवान या ईश्वर की थी। दूसरी भी बात हो सकती थी। वह होती मनुष्य की चेतना। आपकी, हमारी, इसकी-उसकी चेतना। एनेक्सागोरस साफ़-साफ़ यह भी नहीं कह सके। ठीक यही बात बाद के दार्शनिकों ने बताई, जिन्हें सोफिस्ट कहा गया है।

सोफिस्ट लोग तर्क में धुरन्धर थे। उस युग में वैसा तर्क और कोई भी नहीं कर सकते थे। कहते हैं, वे तर्क से दिन को रात कर दे सकते थे। यहां तक कि उनके तर्क की लड़ाई देखने के लिए उस युग के बड़े लोग पैसा खर्च करते थे। तर्क करना ही उनका पेशा था। ये जो सोफिस्ट थे, उन्होंने तर्क से यह साबित कर दिखाना शुरू किया कि मनुष्य की चेतना या मनुष्य का मन ही परम सत्य है, उससे बड़ा सत्य दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता। इस दल के एक ज़ोरदार तर्कवागीश थे—प्रोटागोरस। उनका कहना था, मनुष्य ही सब-कुछ की असल कसौटी है—मैन इज द मेजर ऑफ ऑल थिंग्ज़। मतलब ? मतलब कि क्या सत्य है, क्या सत्य नहीं है और क्या कितना-सा सत्य है,

क्या कितना मिथ्या—इसे समझने का एक सहारा सिर्फ मनुष्य का मन-मिज़ाज है। मनुष्य जो कुछ जैसे सोचता है, वह उसी रूप में सत्य है।

जैसे, कहा जाता है कि नमक खारा होता है। इसके माने यह हैं कि दुनिया में नमक नाम की एक चीज़ है, जिसमें खारा स्वाद नाम का एक गुण है। मगर सोफिस्टों ने क्या कहा? कहा, ऐसी बात का कोई मतलब नहीं होता। हमको-आपको खारा लगता है, इसलिए नमक को खारा कहते हैं। नमक का यह खारा होना सब प्रकार से मनुष्य की चेतना पर निर्भर करता है। मनुष्य की चेतना को छोड़कर नमक का खारा होना कोई मानी ही नहीं रखता। दुनिया की सभी चीज़ों के बारे में यही बात है। हर कुछ मनुष्य की चेतना पर निर्भर करता है। इसलिए मनुष्य की चेतना ही परम सत्य है। जो कुछ सत्य है, वह चेतना के चलते ही सत्य है।

चेतना ही सब-कुछ है। चेतना ही मूल है। चेतना ही परम सत्य है। जगत को जो हम सत्य समझते हैं, वह चूँकि चेतना पर निर्भर है, इसीलिए सत्य है। अगर मनुष्य की चेतना की परवाह न की जाए तो कोई नमक भी सत्य नहीं हो सकता।

बातों में हम कहा करते हैं, यह अच्छा है, वह बुरा है। यह न्याय है, वह अन्याय है। सोफिस्टों ने बताया, इन सबका [illegible] इस के ऊपर है हमारा मन—

नहीं है असाधु।

प्राचीन ग्रीस के एक दूसरे ज्ञानी ने कहा—यह नहीं हो सकता। उन ज्ञानी का नाम था सुकरात। उन्होंने कहा, इतना ही नहीं कि ये बातें भूल हैं, बल्कि ऐसी भूल बातों के मोह में पड़ने से मनुष्य का सर्वनाश हो जायगा। इसलिए हाट-बाट से लेकर बड़े लोगों के भोज-भात के मजमे तक में वे सोफिस्टों से इस पर बहस-मुबाहिसा शुरू कर देते। सोफिस्ट लोग तो बहस में धुरन्धर थे ही—यही उनका पेशा था। मगर सुकरात से बहस में उनके लिए भी पार पाना कठिन हो गया।

सुकरात की बहस करने का ढंग भी बड़े मजे का था। मानो खुद वे कुछ जानते ही नहीं, समझते ही नहीं। औरों से दो बातें पूछ-ताछकर जैसे जानने की कोशिश करते हों। पर जहां आपने कुछ कहा कि उन्होंने सवाल करना शुरू कर दिया—आपकी बात का यह मतलब मैंने नहीं समझा, वह नहीं समझा—समझा दीजिए। जितना ही आप जवाब देते जाएंगे, उतना ही नए-नए प्रश्न आपके सामने आते चले जाएंगे और अंत तक आप अवाक् होकर देखेंगे कि आपने पहले जो कहा था अब आप खुद उसका उलटा कहने लगे हैं। इसका क्या मतलब ? यही कि आपने जिसे ज्ञान समझा था, वह ज्ञान नहीं, ज्ञान का अभाव था—अज्ञान।

सोफिस्टों से ऐसी ही बहस कर-करके ये साबित कर देते कि उन्हें जो इतना गुमान है, वह ज्ञान की बदौलत नहीं—अज्ञान से है।

लेकिन सुकरात क्या यही साबित करना चाहते थे कि

क्या कितना मिथ्या—इसे समझने का एक सहारा सिर्फ मनुष्य का मन-मिजाज है। मनुष्य जो कुछ जैसे सोचता है, वह उसी रूप में सत्य है।

जैसे, कहा जाता है कि नमक खारा होता है। इसके माने यह हैं कि दुनिया में नमक नाम की एक चीज़ है, जिसमें खारा स्वाद नाम का एक गुण है। मगर सोफिस्टों ने क्या कहा? कहा, ऐसी बात का कोई मतलब नहीं होता। हमको-आपको खारा लगता है, इसलिए नमक को खारा कहते हैं। नमक का यह खारा होना सब प्रकार से मनुष्य की चेतना पर निर्भर करता है। मनुष्य की चेतना को छोड़कर नमक का खारा होना कोई मानी ही नहीं रखता। दुनिया की सभी चीज़ों के बारे में यही बात है। हर कुछ मनुष्य की चेतना पर निर्भर करता है। इसलिए मनुष्य की चेतना ही परम सत्य है। जो कुछ सत्य है, वह चेतना के चलते ही सत्य है।

चेतना ही सब-कुछ है। चेतना ही मूल है। चेतना ही परम सत्य है। जगत को जो हम सत्य समझते हैं, वह चूंकि चेतना पर निर्भर है, इसीलिए सत्य है। अगर मनुष्य की चेतना की परवाह न की जाए तो कोई कतरा भी सत्य नहीं हो सकता।

बातों में हम कहा करते हैं, यह अच्छा है, वह बुरा है। यह न्याय है, वह अन्याय है। सोफिस्टों ने बताया, इन सबका कोई अर्थ ही नहीं। क्योंकि सब-कुछ के ऊपर है हमारा मन—मन जो चाहे, वही सुन्दर है, जो न चाहे वही बुरा; हमें जो रुचता है वही न्याय है, जो नहीं रुचता वह अन्याय; जिससे हम सुख पाते हैं वही है साधु और जिससे सुख नहीं मिलता

वही है असाधु।

प्राचीन ग्रीस के एक दूसरे ज्ञानी ने कहा—यह नहीं हो सकता। उन ज्ञानी का नाम था सुकरात। उन्होंने कहा, इतना ही नहीं कि ये बातें भूल हैं, बल्कि ऐसी भूल बातों के मोह में पड़ने से मनुष्य का सर्वनाश हो जायगा। इसलिए हाट-बाट से लेकर बड़े लोगों के भोज-भात के मजमे तक में वे सोफिस्टों से इस पर बहस-मुबाहिसा शुरू कर देते। सोफिस्ट लोग तो बहस में धुरन्धर थे ही—यही उनका पेशा था। मगर सुकरात से बहस में उनके लिए भी पार पाना कठिन हो गया।

सुकरात की बहस करने का ढंग भी बड़े मज़े का था। मानो खुद वे कुछ जानते ही नहीं, समझते ही नहीं। औरों से ही दो बातें पूछ-ताछकर जैसे जानने की कोशिश करते हों। और जहां आपने कुछ कहा कि उन्होंने सवाल करना शुरू कर दिया—आपकी बात का यह मतलब मैंने नहीं समझा, वह नहीं समझा—समझा दीजिए। जितना ही आप जवाब देते जाएंगे, उतना ही नए-नए प्रश्न आपके सामने आते चले जाएंगे और अन्त तक आप अवाक् होकर देखेंगे कि आपने पहले जो कहा था, अब आप खुद उसका उलटा कहने लगे हैं। इसका क्या मतलब? यही कि आपने जिसे ज्ञान समझा था, वह ज्ञान नहीं, ज्ञान का अभाव था—अज्ञान।

सोफिस्टों से ऐसी ही बहस कर-करके ये साबित कर देते थे कि उन्हें जो इतना गुमान है, वह ज्ञान की बदौलत नहीं है—अज्ञान से है।

लेकिन सुकरात क्या यही साबित करना चाहते थे कि

कोई कुछ नहीं जानता, मनुष्य के लिए ज्ञान सम्भव ही नहीं ?

नहीं। सुकरात यह मानते थे कि जो साधु है, जो न्याय है, जो वाजिब है, वह केवल हमारे-आपके अच्छा-बुरा लगने पर ही नहीं है। वह सबके लिए साधु, न्याय और अच्छा है। वह चिरंतन है, सार्वभौम है, उसकी अपनी सत्ता है। मगर सवाल यह है कि उसका आविष्कार कैसे किया जाए? सुकरात ने कहा, इसका भी एक उपाय है। कैसा उपाय ? साधुता की कुछ मिसाल लीजिए—यह, वह, और भी कई। इनमें से एक-एक साधुता का ही उदाहरण है। इसलिए उन सबमें खोजने पर साधुता का रूप मिलना चाहिए। लेकिन खोजा कैसे जाए? इस तरह कि साधुता के ये-वे जो चार-पांच नमूने हैं, उनमें किसी-न-किसी बात में मेल जरूर है। नहीं होता तो उन सभी को साधुता का नमूना कहा कैसे जाता ? फिर उनमें फर्क भी जरूर है। फर्क नहीं होता, तो एक से दूसरे को अलग ही नहीं किया जा सकता। मतलब यह निकला कि उनमें परस्पर मेल भी कहीं है, फर्क भी कहीं है। अब प्रश्न यह आता है कि अगर उनके फर्क को ढूंढ़ निकाला जाए, तो साधुता के रूप को हम पा सकते हैं ? यह कैसे होगा ? क्योंकि साधुता तो उन सभी नमूनों में है और उनके फर्क का मतलब यह होता है कि किसी में है, किसी में नहीं है। फिर ? फिर साधुता की खोज दूसरी ही तरह से करनी पड़ेगी—इस तरह से कहां उनमें मेल है। अर्थात् खोज देखना होगा। कि असल में वह कौन-सा कारण है, जिससे हमें, उसे और उसको भी साधुता का नमूना हम कहते हैं। उसी कारण को ढूंढ़ लेने से समझ में आएगा कि

साधुता असल में है क्या। इससे यह पता चल जाएगा कि साधुता के प्रति उदाहरण में युग-युग से किस चीज का विकास होता आ रहा है। चिरंतन साधुता का रूप वही होगा!

सुकरात ने सोचा, साधुता के रूप को इसी तरह ढूंढ़ निकालना सम्भव होगा।

सुकरात के जो सबसे मशहूर शिष्य हुए, उनका नाम है प्लेटो। प्लेटो ने अपने गुरु के इस ढंग को कुछ और आगे बढ़ाना चाहा। आगे ले जाने के क्या मानी? सुकरात ने अपने उस ढंग से खास तौर से साधुता के स्वरूप को आविष्कार करने की कोशिश की थी। प्लेटो ने सोचा, ऐसा क्यों? इस ढंग से तो मोटे रूप से गाय-भेड़, घर द्वार—सब-कुछ के स्वरूप को जानने की कोशिश की जा सकती है।

मगर यह फिर किस तरह की बात? गाय-भेड़, घर-द्वार इनका स्वरूप भला क्या?

पहले हम प्लेटो की समस्या को समझ लें।

गाय की समस्या क्या होती है? मान लीजिए, हमने एक हजार गायें देखी—एक गाय, दो गाय, तीन गाय—इस तरह एक हजार गाय। तो यह गाय नं० १ तो गाय नं० २ नहीं है—दोनों अलग-अलग हैं। दोनों में फर्क है। फिर भी दोनों को हम गाय ही कहते है। इसका अभिप्राय ही हुआ कि एक और दो नम्बर की दो गायों में निश्चय ही एक-जैसा कुछ है कि हम दोनों को एक नाम से पुकारते हैं—दोनों ही को गाय कह सकते हैं। और यह बात महज दो ही गायों की बाबत नहीं है, बल्कि संसार में जो करोड़ों-करोड़ गायें हैं, सबके लिए समान

सत्य है। हर एक-दूसरे से अलग है और हर का एक-दूसरे से मेल है। ऐसा न हो तो सबको गाय कैसे कहा जाए ?

मगर ये जो दो बातें हैं—भेद और समानता—उनमें से किसकी छान-बीन करें कि गाय के असली स्वरूप का पता चले। गाय का गायपना किस बात में है ? भेद में तो जरूर नहीं होगा, क्योंकि भेद एक में है, दूसरे में नहीं है। इसलिए गाय के स्वरूप को समझने के लिए यह जानना होगा कि वह कारण कौन-सा है, जिससे हम हर गाय को गाय कहते हैं—यह गायपना के माने क्या है ?

गायपना को क्या आंखों से देखा जा सकता है ? हाथ से छुआ जा सकता है ? ऐसा भला कैसे हो सकता है ? हम इस गाय को देख सकते हैं, उस गाय को छू सकते हैं—मगर सब तो एक-एक खास गाय हैं। गायपना कहां है ?

गर्ज कि गायपना को आंखों नहीं देखा जा सकता, हाथों से नहीं छुआ जा सकता। थोड़े में, उसे जानने की कोई तरकीब नहीं है। बुद्धि और विचार से ही उसकी पकड़ हो सकती है। मतलब कि गायपना में वास्तव संसार की चीज ही नहीं है, ध्यान की वस्तु है। धारणा करने की वस्तु है।

प्लेटो ने बताया, गाय की धारणा ही एकमात्र सत्य है। इन्द्रियों की मदद से हम जो करोड़ों-करोड़ गायें देखा करते हैं, वह हमारी धारणा की छाया है। छाया है, इसलिए वह माया है। इसे सच समझकर अकड़े रहना भ्रम नहीं तो और क्या है ?

प्लेटो का यह कहना सिर्फ गाय के ही लिए तो नहीं है।

दुनिया में हम जो कुछ जानते हैं, सुनते हैं, देखते हैं—सबके बारे में उनकी यही राय है। तो मिला-जुलाकर उनकी राय क्या होती है ? उनकी राय में यह दुनिया ही मिथ्या या माया हो जाती है। फिर सत्य ? वह एक ध्यान का राज्य है, धारणा का राज्य। इस राज्य में तरह-तरह की धारणाए हैं, मगर महज़ धारणा। उस राज्य की एक-एक धारणा की करोड़ों-करोड़ छाया पड़ती हैं, हम लोग बेवक़ूफ़ की तरह छाया को ही सत्य मान लेते हैं। सोचते हैं—घर सत्य है, गाय सत्य है, ज़मीन सत्य है, हल सत्य है।

पण्डितों ने इसकी छान-बीन की है कि प्लेटो पर पिथेगोरस पंथियों का कितना प्रभाव है और कितना प्रभाव इलियाटिकों का है। मगर सोचना तो यह है कि सत्य की खोज करते-करते लोग किस आफत में आ फसे। अगर इस मत को माना जाए, तो हमको-आपको, किसी को सत्य नहीं माना जाएगा। कहना पड़ेगा कि किसी एक ध्यान-राज्य के मनुष्य की कोई धारणा है—हम-आप उसी की छाया है !

अरस्तू

और भी बातें हैं। ग्रीक-विचार अन्त तक किस मुसीबत में जो जा पड़ा, यह जानने के लिए प्लेटो के शिष्य अरस्तू की भी बात समझनी होगी। गोकि शिष्य होते हुए भी अरस्तू के मन में गुरु-भक्ति की बू-बास नहीं थी।

अरस्तू ने बहुत विषयों पर पुस्तकें लिखी थी। सबकी आलोचना करने की तो यहां गुंजाइश नहीं। हम सिर्फ न्याय

शास्त्र पर उनके मत की चर्चा करेंगे।

न्यायशास्त्र का क्या मतलब है? विचार कैसे करना चाहिए, कैसे विचार करने से भूल का भय नहीं होगा, न्यायशास्त्र यही बताता है। ग्रीक-दार्शनिकों में यह समस्या अरस्तू से बहुत पहले उठी थी। जेनो और हेराक्लाइटस की बात याद है तो? जेनो ने बताया था, गति या परिवर्तन को सत्य नहीं माना जा सकता। क्योंकि उसे मानने से दो परस्पर-विरोधी बातों को एक साथ ही स्वीकार करना पड़ता है—एक ही चीज के लिए 'है' भी कहना होगा 'नहीं है' भी कहना होगा। हेराक्लाइटस ने कहा था, नहीं। एक साथ दो विरोधी बातें कहने में डर क्या? विरोध ही तो सत्य है। जन्म और मृत्यु, मृत्यु और जन्म—हर वस्तु में, हर पल इसी का द्वन्द्व है। इसलिए एक से दूसरी धारणा के विरोध के भय से गति को गायब नहीं करना है। उससे तो बल्कि गति को ही सत्य कहें और सत्य को समझने के लिए विरोध और संघर्ष को छोड़कर सोचा ही नहीं जा सकता।

तो इसके विचार का तरीका क्या हो? इस पर देखा गया कि जेनो की राय कुछ और है, हेराक्लाइटस की कुछ और। अगर जेनो के मत को ही सत्य मान लें तो गति और परिवर्तन को सत्य कहने की गुंजाइश नहीं रह जाती। और हेराक्लाइटस की राय सत्य मानें तो मानना होगा कि गति ही सत्य है।

इसमें अरस्तू का मत क्या रहा? उन्होंने क्या चेष्टा की? उनकी कोशिश यह रही कि हेराक्लाइटस के मत को सदा के

लए खतम कर दें और जेनो के मत को स्थापित करें। अरस्तू
ने क्या कहा ? कहा, अगर सही सोचना चाहते है, तो एक ही
साथ 'हां' और 'ना' दोनों बातें नहीं कही जा सकती। दो
परस्पर-विरोधी बातों को साथ-साथ स्थान मिलना सम्भव
नहीं। अगर 'हाँ' कहना हो, तो 'हां' ही कहिए, 'ना' तो 'ना'
ही। 'हां' भी नहीं और ना भी नहीं, ऐसा नहीं चल सकता।
और हां भी और ना भी कहना नहीं चल सकता। अरस्तू
ने बताया, न्यायशास्त्र की मूल बात यही है। यानी सही विचार
के लिए यह याद रखना जरूरी है कि एक साथ दो विरोधी
बातें नहीं टिक सकती।

जोर देकर यह कहने का अंजाम क्या हो सकता है, यह
हम जेनो के मामले में देख चुके हैं। ठीक इसी बात के भरोसे
जेनो ने साबित करना चाहा था कि सारी दुनिया को
मिथ्या या माया मानना ही पड़ेगा। क्यों? क्योंकि गति की
बात को छोड़कर दुनिया को चीन्हने की चेष्टा हो ही नही
सकती। और गति या परिवर्तन को सत्य मानना हो तो दो
विरोधी बातों को भी मानना ही पड़ेगा कि हां और ना, जन्म
और मृत्यु एक ही साथ सत्य हैं।

बहुत-से लोग कहते हैं, प्लेटो से अरस्तू का बहुत बड़ा
फर्क है। प्लेटो की निगाहें ध्यान-राज्य की ओर, कल्पनालोक
की ओर थीं। अरस्तू की आंखें धरती की ओर थी, प्रकृति
को जानने-चीन्हने की तरफ थीं। प्लेटो कवि थे, अरस्तू वैज्ञा-
निक। आदि-इत्यादि। मगर इन गुरु-शिष्यों में भेद ढूंढना
वास्तव में कहां तक ठीक है, नहीं कहा जा सकता। क्योंकि

दोनों की कोशिशें एक ही निष्कर्ष पर पहुंचती हैं कि अनुभव से जानी जानेवाली यह मूर्त पृथ्वी माया है, मिथ्या है, झूठ है। अरस्तू ने बहुत-सी किताबें लिखीं और कई सौ साल तक यूरोप के लगभग सभी पण्डित उन पुस्तकों को वेद-वाक्य मानते रहे। मगर यह सोच देखने की बात है कि यह अरस्तू का गौरव है या उस समय के यूरोप के पण्डितों के लिए लज्जा। क्योंकि विज्ञान की जो मूल बात है यानी अनुभव के सहारे प्रकृति से तथ्य संजोकर, उन्हीं पर विचार-विमर्श करके ज्ञान प्राप्त करना—अरस्तू ने इसकी परवाह ही नहीं की। अनुभव से उनका लगाव कैसे टूट गया था, इसका एक उदाहरण दें। उन्होंने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि स्त्रियों के मुंह में पुरुषों से कम दांत होते हैं। खुद अरस्तू के दो-दो स्त्रियां थीं। उनमें से एक का भी मुंह खोलकर अगर देख लेते कि वास्तव में दांत कितने हैं, तो ऐसा लिखने की नौबत ही नहीं आती। मगर वे देखते भी क्या, उन्हें आंखों देखे पर, अनुभव पर विश्वास होता तब तो! किन्तु इससे भी अचरज की बात यह है कि उनके मरने के बाद हजार साल से भी ज्यादा अरसे तक ऐसे-ऐसे पण्डित, जिनका नाम फैला था, वे भी उनकी पुस्तकों की अजीबोगरीब बातों को वेद-वाक्य समझते थे! ऐसे युग को इसलिए अन्धकार-युग छोड़ और क्या कहा जा सकता है?

खैर यह बात फिर होगी।

कुछ समस्याएं

ग्रीक-युग के पण्डितों की चर्चा अब यहीं रहे। आज की

कमा है और बात अभी बहुत बाकी है। फिर थैलिस से अरस्तू तक जितनी आलोचना हो चुकी, उसीमें सबसे जरूरी समस्याएं आ गई, बल्कि उन्हीं समस्याओं को भली तरह देख लें।

पहला प्रश्न यह है कि यह संसार सत्य है कि मिथ्या ? कोई कहते हैं, माया है, कोई कहते हैं, सत्य है। गोकि इतनी-इतनी अनगिनती चीजों में कौन-सी असली सत्य है, इसे पहचानने की कोशिश जरूरी है।

दूसरी बात है कि चैतन्य बड़ा है या कि वास्तव प्रकृति ही बड़ी है। पहले कौन-सा है ? कौन अधिक सत्य है ? एक दल के लोग कहते हैं, यह वास्तव में प्रकृति ही बड़ी है, यह किसी विचार या धारणा पर निर्भर नहीं करती। जैसा कि थैलिस डिमोक्रिटस या और दूसरों का मत है। दूसरा दल कहता है, नहीं। मन ही असल में बड़ा है, चेतना ही बड़ी है, धारणा ही बड़ी है। हम वास्तव में जिसे वस्तु-जगत् कहते हैं, हकीकत में वह उस चेतना पर ही निर्भर है या वह धारणाओं की महज छाया है। जैसा कि सोफिस्टों या प्लेटो का कहना है।

तीसरा सवाल है कि क्या गति को सत्य कहा जाए ? या जो सत्य है, वह सनातन या चिरंतन है ? गति की धारणा क्या देखने की भूल, मन का वहम है ? एक जमात ने कहा—गति मिथ्या है। जैसा कि जेनो, परमानाइडिस, प्लेटो। और हेराक्लाइटस ने कहा, नहीं, गति ही सत्य है।

चौथा सवाल है विचारने के तरीके का। सही सोचने के लिए क्या हम विरोधी धारणा को बाद देने के लिए मजबूर हैं? हेराक्लाइटस का कहना था, ऐसा भी कहीं हो सकता है। वह

विरोध ही तो सब-कुछ है—जो कुछ भी है, सब में हर क्षण एक ओर जन्म है, एक ओर मृत्यु है। अरस्तू ने बताया, ऐसा हर्गिज नहीं हो सकता। विरोध को मानना भ्रम को गुंजाइश देना है।

ये चारों समस्याएं भली तरह याद रखने की हैं। क्योंकि दर्शन के इतिहास की सबसे बड़ी समस्याएं यही हैं।

दास-समाज और दर्शन का संकट

एक दूसरा ही सवाल लें।

आपको शायद याद हो, ग्रीस के उपनिवेश में ही विज्ञान का जन्म हुआ था। मिस्र में नहीं हुआ, बेबिलोनिया में नहीं हुआ, हुआ कहां कि मिलेटस-जैसे एक नए शहर में। ऐसा क्यों हुआ? इसलिए कि मिस्र या बेबिलोनिया के समाज की जो बनावट थी, उसमें वैज्ञानिक जिज्ञासा के लिए जगह ही नहीं हो सकती। अगर किसी बड़े इलाके में पुरोहित-राज कायम हो जाए, तो उसे टिकाए रखने के लिए प्यादोंवाला कुसंस्कार ही जरूरी है और चूंकि वैसा कुसंस्कार जरूरी है, इसलिए विज्ञान की रोशनी में दुनिया को जानने-चीन्हने की वहां मनाही होगी।

ग्रीक-सभ्यता की बात दूसरी थी। यहां जो समाज के प्रधान थे, वे पुरोहित-राज नहीं, बल्कि सौदागर थे। शहर-व्यापार के केन्द्र थे, जहां देश-देश के लोग जुटते थे। लिहाजा तरह-तरह के कुसंस्कार आपस में टकराते थे और एक-दूसरे को खत्म कर देते। फिर व्यापार करना है तो वहां घर के

कोने में सिमटे रहने से तो काम नहीं चल सकता। उसके लिए समन्दर पार करना पड़ता है, पहाड़ पार करना पड़ता है, दूर-देश जाना पड़ता है। इन्हीं कारणों से उनके मन से धीरे-धीरे कुसंस्कार मिटता गया—ग्रीक सभ्यता की सीमा में विज्ञान का जन्म हुआ।

फिर उसी ग्रीक सभ्यता में ऐसी कौन-सी मुसीबत आ पड़ी कि वहां के ज्ञानी-गुणी घनघोर अवास्तव कल्पना में एड़ी से चोटी तक रँग गए? प्लेटो और अरस्तू की ही बात ली जाए। प्लेटो ने कहा, इस दुनिया के पीछे एक ध्यान-राज्य है और वही परम सत्य है—दुनिया महज उसकी छाया है। अरस्तू ने एक ऐसे युक्ति-शास्त्र की नींव डाली कि गति या परिवर्तन को किसी भी तरह से सत्य कहने का उपाय नहीं रह गया। यहां तक कि किताब को विज्ञान की किताब बताकर भी उन्होंने उसमें ऐसी-ऐसी अजीबोगरीब, अनहोनी बातें लिखने में संकोच नहीं किया, जिन्हें कि मामूली अनुभव से ही अनहोना समझने में दिक्कत नहीं होती। उन्होंने अनुभव का इतना भी सहारा नहीं लिया। इसलिए कि अनुभव पर उन्हें जरा भी आस्था नहीं रह गई थी।

तो इन सब बातों का सार क्या निकला? यही कि ज्ञानियों के मन से वास्तविक दुनिया के सारे विश्वास उठ गए, गति या परिवर्तन के सारे विश्वास धुल गए, अनुभव का विश्वास जाता रहा। नतीजा यह निकला कि उन्होंने ज्ञान के नाते जो बातें कहीं, सब उनकी मनगढ़न्त हो गईं, कपोल-कल्पना।

सत्य की खोज में निकलकर मनुष्य आखिर ऐसे संकट में

क्यों पड़ गया ? ग्रीक-समाज की बनावट से ही इस बात का पता चलेगा ।

ग्रीक-समाज दासों का समाज था। किन्तु दास-समाज का भी एक इतिहास है । आरम्भ में दासों को केवल गृहस्थी के कामों में लगाया था । लेकिन जैसे-जैसे दिन बीतते गए, पता चला कि आजाद ग्रीक लोग मेहनत-मशक्कत का सारा ही काम उन दासों के मत्थे थोपते जा रहे हैं । युद्ध से तिनका तोड़ना भी उन्हें गवारा न रहा।

यह सोच देखिए कि उस ग्रीक-समाज में गुलामों की इज्जत कितनी थी ? जरा भी नहीं । जिन लोगों की हाट-बाजार में खुलेआम खरीद-बिक्री होती हो, उनकी फिर इज्जत क्या । ये गुलाम निहायत गाय-बैल जैसे थे, हल जैसे थे । फर्क इतना ही था कि ये बोल सकते थे । अरस्तू ने ठीक यही कहा था। कहा था कि ये गुलाम यों हथियार-जैसे हैं, केवल बात कर सकते हैं, यही जो है । अरस्तू की इस बात से ही पता चल जाता है कि उस समाज में गुलामों की इज्जत कितनी थी।

तो दशा यह हुई कि मेहनत-मशक्कत का सारा ही भार जा पड़ा गुलामों के कन्धे पर और वे गुलाम मानों पूरे आदमी भी नहीं थे या आदमी भी थे, तो बड़े ही गिरे हुए किस्म के । इसलिए ग्रीकों के आगे मेहनत की मर्यादा ही कितनी रह गई ? मेहनत करना गये-बीते लोगों का लक्षण हो गया, नीचों का, गुलामों का लक्षण ।

लिहाजा ग्रीक-समाज के ज्ञानी-गुणी, पण्डित और महान् लोगों में भी परिश्रम के लिए कोई मर्यादा नहीं रह गई । सत्य

की खोज में वे आगे तो बढ़े पर केवल चिन्ता के सहारे दिमाग लड़ाने के सहारे। उन्होंने सोचा, महज़ सोच-विचार से, बुद्धि की पैंतरेबाज़ी से ही हम सत्य को ढूंढ निकालेंगे।

ऐसी हालत में वास्तव दुनिया की बात, वास्तव को बदल डालने की बात, गति या परिवर्तन की बात, अनुभव के ज़रिए प्रकृति के कायदे-क़ानून को जानने-चीन्हने की बात भी क्या उनके हृदय में जगह पा सकती थी? पाए भी तो कैसे? इन सारी ही बातों के पीछे तो मनुष्य का श्रम है। हाथ-पाव समेटे बैठने से तो वास्तव संसार से किसी भी तरह का सम्बन्ध नहीं हो सकता, अनुभव नहीं हो सकता। जिन पर दुनिया को बदलने की ज़िम्मेदारी है केवल वही इस बात का साफ़ अनुभव कर सकते हैं कि यह परिवर्तन कितना वास्तव है।

थोड़े में कहें तो यही होगा कि चूंकि ग्रीक-सभ्यता में विचारकों का सम्बन्ध श्रम से एकबारगी छूट गया, इसलिए उनके आगे वास्तविक दुनिया, परिवर्तन, अनुभव की कोई कीमत ही नहीं रह गई। इससे सत्य की खोज के पथ पर बहुत बड़ा संकट आ पड़ा। मनगढ़न्त कल्पना को ही ज्ञानी लोग परम सत्य मानने लगे। आंखों देखी गति या परिवर्तन बिल्कुल मिथ्या होने लग गया।

ग्रीक-दर्शन के ज़िक्र के सिलसिले में यह जो एक बात हाथ लगी, यह बड़ी कीमती बात है। क्योंकि दूसरे देशों के इतिहास से भी यही मालूम होता है कि श्रम से चिन्ता का और कर्म से ज्ञान का सम्बन्ध जितना ही छूटता जाता है, उतना ही विचारकों के मन से वास्तव प्रकृति की बात मिटती गई है और एक मन-

गढन्त कल्पना को ही उन्होंने मान और मूल्य देने की को
की है। सभी देशों के दर्शन की आलोचना करें, इतना
स्थान नहीं है। मगर अपने देश के बारे में थोड़ी-सी
जरूरी है।

भारतीय दर्शन की बात

यहां के दर्शन की आलोचना में कठिनाइयां बहुत हैं
में उसी के बारे में कुछ कह लेना जरूरी है।

हमारा देश बहुत दिनों तक अंग्रेजों के अधीन रह
अंग्रेजों ने हमें यही बताने की कोशिश की है कि भारत के
बहुत गिरे हुए हैं—क्या सभ्यता, क्या शिक्षा और क्या
बुद्धि—किसी बात में वे हमारे समान नहीं। इसलिए
लिए गुलामी स्वाभाविक है।

कहना फिजूल है कि ये बातें सरासर झूठ हैं। हमें
के लिए ही उन्होंने हमारे दिमाग में ऐसी बातें ठूसने की
की। इसका फल यह हुआ कि जब यहां आजादी के लिए
शुरू हुई तो यहां के पण्डितों ने भी अपने बीते हुए गौ
बढ़ा-बढ़ाकर कहना शुरू किया कि हम कितने महान् थे,
सभ्यता कितनी ऊंची थी।

और यह कहना सर्वथा सत्य है। प्राचीन भा
सभ्यता के गौरव की कोई तुलना हो सकती है? हम
भारतीय उसीके वाहक हैं। इसलिए हमें तुच्छ साबित
की जो कोशिश अंग्रेजों ने की, वह धोखा देने की ही कोशि

किन्तु उसी के साथ एक बात और याद रखने की

हमारे राष्ट्रीयतावादी पण्डितों में बहुत समय एक गलत झोंक दिखाई पड़ा। क्या? क्यों वैसा भूल झोंक उनमें आया?

किन्हीं-किन्हीं पण्डित ने यहां यह प्रमाणित करना चाहा कि हमारे अतीत का जो महान् गौरव है, वह सिर्फ अध्यात्मवाद का है। बहुतों ने यह कहना शुरू किया कि पश्चिम के लोग जड़वादी हैं, वे माटी की धरती को ही चरम सत्य समझते हैं और इसीलिए कुछ थोथे सुखभोग को ही उन्होंने महत्त्व दे रखा है। हमारे ऋषि-मुनियों ने यह समझ लिया था कि यह दुनिया नहीं टिकनेवाली है, माया है, मिथ्या है। इस दुनिया के कुछ मोटे सुखों को पुरुषार्थ समझ बैठना निहायत मोटी बुद्धि का लक्षण है। इसलिए अमृत के पुत्र मनुष्य को उन्होंने समझा दिया था कि वह वस्तु लेकर क्या करना जिससे कि अमृत यानी अमरता नहीं पाई जा सकती? उन्होंने बताया, थोड़े में सुख नहीं, भूमा ही सुख है। उन्होंने यह प्रार्थना की थी कि हमें अंधेरे से प्रकाश की ओर ले चलो। यही सब।

अपने यहां के अनेक पण्डितों से बार-बार ऐसा सुनकर बहुतों को यही खयाल हुआ कि शायद यही सच हो। शायद अध्यात्मवाद ही हमारे यहां का आदि दर्शन हो।

मगर बात सही नहीं है। क्यों, सो बाद में बताते हैं। उससे पहले यह जानने की कोशिश करें कि ऐसी भूल धारणा को बड़े-बड़े पण्डित भी क्यों सच मान बैठे?

उसका एक बड़ा कारण तो यह है कि हमारे मुकाबले हम पर हुकूमत करनेवाले अंग्रेजों में विज्ञान की तरक्की सचमुच ही हमसे बहुत ज्यादा हुई थी। प्रकृति को पहचानकर उसे

गढ़न्त कल्पना को ही उन्होंने मान और मूल्य देने की कोशिश की है। सभी देशों के दर्शन की आलोचना करें, इतना यहां स्थान नहीं है। मगर अपने देश के बारे में थोड़ी-सी चर्चा जरूरी है।

भारतीय दर्शन की बात

यहां के दर्शन की आलोचना में कठिनाइयां बहुत हैं। शुरू में उसी के बारे में कुछ कह लेना जरूरी है।

हमारा देश बहुत दिनों तक अंग्रेजों के अधीन रहा है। अंग्रेजों ने हमें यही बताने की कोशिश की है कि भारत के लोग बहुत गिरे हुए हैं—क्या सभ्यता, क्या शिक्षा और क्या ज्ञान-बुद्धि—किसी बात में वे हमारे समान नहीं। इसलिए उनके लिए गुलामी स्वाभाविक है।

कहना फिजूल है कि ये बातें सरासर झूठ हैं। हमें ठगने के लिए ही उन्होंने हमारे दिमाग में ऐसी बातें ठूंसने की कोशिश की। इसका फल यह हुआ कि जब यहां आजादी के लिए लड़ाई शुरू हुई तो यहां के पण्डितों ने भी अपने बीते हुए गौरव को बढ़ा-बढ़ाकर कहना शुरू किया कि हम कितने महान् थे, हमारी सभ्यता कितनी ऊंची थी।

और यह कहना सर्वथा सत्य है। प्राचीन भारत
सभ्यता के गौरव की कोई तुलना हो सकती है?
भारतीय उसीके वाहक हैं। इसलिए हमें
की जो कोशिश अंग्रेजों ने की, वह धोखा

किन्तु उसी के साथ एक बात

हमारे राष्ट्रीयतावादी पण्डितों में बहुत समय एक गलत झोंक दिखाई पड़ा। क्या ? क्यों वैसा भूल झोंक उनमें आया ?

किन्हीं-कन्ही पण्डित ने यहां यह प्रमाणित करना चाहा कि हमारे अतीत का जो महान् गौरव है, वह सिर्फ अध्यात्म-वाद का है। बहुतों ने यह कहना शुरू किया कि पश्चिम के लोग जड़वादी हैं, वे माटी की धरती को ही चरम सत्य समझते हैं और इसीलिए कुछ थोथे सुखभोग को ही उन्होंने महत्त्व दे रखा है। हमारे ऋषि-मुनियों ने यह समझ लिया था कि यह दुनिया नहीं टिकनेवाली है, माया है, मिथ्या है। इस दुनिया के कुछ मोटे सुखों को पुरुषार्थ समझ बैठना निहायत मोटी बुद्धि का लक्षण है। इसलिए अमृत के पुत्र मनुष्य को उन्होंने समझा दिया था कि वह वस्तु लेकर क्या करना जिससे कि अमृत यानी अमरता नहीं पाई जा सकती ? उन्होंने बताया, थोड़े में सुख नहीं, भूमा ही सुख है। उन्होंने यह प्रार्थना की थी कि हमें अंधेरे से प्रकाश की ओर ले चलो। यही सब।

अपने यहां के अनेक पण्डितों से बार-बार ऐसा सुनकर बहुतों को यही खयाल हुआ कि शायद यही सच हो। शायद अध्यात्म-वाद ही हमारे यहां का आदि दर्शन हो।

मगर बात सही नहीं है। क्यों, सो बाद में बताते हैं। उससे पहले यह जानने की कोशिश करे कि ऐसी भूल धारणा को बड़े-बड़े पण्डित भी क्यों सच मान बैठे ?

उसका एक बड़ा कारण तो यह है कि हमारे मुकाबले हम पर हुकूमत करनेवाले अंग्रेजों में विज्ञान की तरक्की सचमुच ही हमसे बहुत ज्यादा हुई थी। प्रकृति को पहचानकर उसे

जीतने की तरकीब उन्होंने ज्यादा निकाली थी। इसीमें अपने गौरव को यहां साबित करने की जो कोशिश हुई, उसमें विज्ञान की उन्नति पर गर्व करने की गुंजाइश नहीं रही। उन्होंने वैज्ञानिक उन्नति का गर्व नहीं किया। बल्कि विज्ञान के आदर्श को, पृथ्वी को जीतने के आदर्श को उन्होंने तुच्छ दिखाना चाहा। यह लेकिन भूल है। इसके चलते देश के लोगों के आगे एक गलत आदर्श को ही आदर्श बनाने की सनक सवार हो गई। देश के लोगों को अगर सचमुच ही उन्नति के पथ पर आगे बढ़ाना है, तो उनके मन में विज्ञान के प्रति दृढ़ विश्वास जगाने की कोशिश करना जरूरी है। सच्चे देश-प्रेम का सबूत तो लोगों को यह समझाने में है कि हम भी पृथ्वी को पहचानकर उसे जीत सकते हैं, इसमें हमारी बुद्धि भी औरों के मुकाबले कुछ कम नहीं है। विज्ञान की उन्नति के पथ पर जो बाधाएं यहां हैं, लोगों को बताना जरूरी है ताकि सब मिल-जुलकर उन बाधाओं को दूर कर सकें। इन बाधाओं में सबसे बड़ी बाधा मान्धाता के ज़माने के पुराने संस्कार हैं। उदाहरण के तौर पर यह समझें कि जब तक आपका ऐसा खयाल है कि चेचक शीतला माई के बिगड़ जाने से फैलता है, तब तक आपके लिए उस रोग के कीटाणुओं का पता लगाना या उसके खिलाफ लड़ने की कोई कोशिश करना मुमकिन ही नहीं।

यह खुशी की बात है कि यहां के कुछ लोगों ने—जिन्होंने देश को सचमुच प्यार किया, जो अध्यात्मवाद के मोह में नहीं पड़े—सचमुच ही विज्ञान को तुच्छ नहीं समझा और उसकी जगह केवल अध्यात्मवाद के ही गौरव को नहीं बिठाना चाहा।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय आदि ऐसे ही लोगों में थे।

एक बार ऐसा विचार किया गया कि कॉलेज की पाठ्य-तालिका से पश्चिमी वैज्ञानिक तर्क विद्या (इण्डक्टिव लॉजिक) उठा दी जाए और पुराने युग का वेदान्त, सांख्य आदि पढ़ाया जाए। विद्यासागर ने इस सिफारिश का तीखा विरोध किया। उन्होंने लाट साहब को एक खुली चिट्ठी लिखी कि वेदान्तदर्शन से छात्रों का हृदय परलोकपरायण हो उठेगा और इससे देश का कल्याण नहीं होगा।

आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय की एक बड़ी मशहूर किताब है—हिन्दू केमिस्ट्री। उस किताब में उन्होंने लिखा है कि हमारे यहां विज्ञान की जो बहुत ज्यादा तरक्की नही हो सकी, उसके कारण हैं। पहला कारण तो है जातिभेद। जातिभेद के कारण मशक्कत-मिहनत को लोगों ने छोटा काम समझ लिया, इसलिए विज्ञान की प्रगति के लिए जांच-पड़ताल की जो जरूरत थी, उसकी ओर लोगों का ध्यान नहीं गया। दूसरा कारण है वेदान्त दर्शन का प्रभाव। इस दर्शन के मुताबिक संसार माया है, मिथ्या है, अगर विद्वानों के मन में इस तरह की धारणा हो तो पृथ्वी को पहचानने और उसको जीतने का उत्साह कहां से आ सकता है?

इतनी बात यहां हमने महज इसीलिए बताई कि एक गलत आदर्श को ही लोगों को एकमात्र आदर्श बताने में सच्चे देश-प्रेम का परिचय नही है। अध्यात्मवाद ही सबसे बड़ा आदर्श है—ऐसा सोचना ग़लत है।

केवल यही क्यों, इतिहास की दृष्टि से भी ऐसा कहना बहुत ही ग़लत है कि हमारे यहां केवल अध्यात्मवाद का ही विकास हुआ है। अध्यात्मवाद था जरूर, पर उस मत में महज़ मुट्ठी-भर लोगों के मन की बात थी—देश के ज्यादा-से-ज्यादा लोगों की नहीं।

शुरू में तो यह सुनकर कैसा लगेगा। मगर अध्यात्मवाद के जन्म के इतिहास को जानने से पता चल जाता है कि यह कितना सत्य है।

ग्रीक-दर्शन की बातें हो चुकी हैं। उससे अध्यात्मवाद के आविर्भाव की बात आई है। अगर वह याद हो तो भारतीय दर्शन की बात समझने में सहूलियत होगी। ग्रीस के बारे में हम देख चुके हैं कि पण्डित लोगों ने श्रम को जितना ही नफ़रत की निगाह से देखना शुरू किया, उतना ही परिवर्तनशील वास्तव-जगत उनकी आंखों से ओझल होता गया। हमारे यहां भी ऐसा ही हुआ क्या?

वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्

हमारे यहां का सबसे बड़ा जो अध्यात्मवादी दर्शन है, उसका नाम है वेदान्त। इस नाम का मतलब है वेद का अन्त—वेदान्त। वेद बहुत पुरानी रचना है। ईसा के जन्म से कोई डेढ़ हज़ार साल पहले की तो होगी ही। वेद कोई एक दिन की रचना तो है नहीं। सदियों में बहुत लोगों ने उसके अंशों की रचना की थी। बाद में उन सबों को इकट्ठा करके वेद या संहिता तैयार हुई। इसलिए एक ही वेद का

एक हिस्सा दूसरे हिस्से से बहुत पुराना है—यहां तक कि साल हज़ार का पुराना।

वेद या संहिता के बाद और भी एक तरह की पोथिया लिखी गईं। उनका नाम है ब्राह्मण। ब्राह्मण-ग्रन्थों में खास तौर से याग-यज्ञ के कायदे-कानूनों की चर्चा है। है तो ये भी बहुत बाद की रचनाएं पर अन्त में इन्हें संहिता मे जोड़ दिया गया। तभी से वेद के दो हिस्से माने गए—एक सहिता या मन्त्रों का संग्रह; दूसरा, ब्राह्मण।

ब्राह्मण के बाद और भी दो तरह के साहित्य रचे गए—आरण्यक और उपनिषद्। बहुत बाद में लिखे जाने के बावजूद इन्हें वेद के आखिरी हिस्से में जोड़ दिया गया। इसीलिए वेद के आखिरी छोर में उपनिषद् है और इसीसे उपनिषद् का दूसरा नाम वेदान्त है।

उपनिषद् एक नहीं, अनेक हैं। अलग-अलग उपनिषद् में अलग-अलग बाते हैं—एक से दूसरे का मेल ढूढ़ निकालना कठिन है। लेकिन बाद के विद्वानों ने कहा, उनमें मेल है। उपनिषदों में अलग-अलग बातें नही है, बल्कि एक ही सार-तत्व को उपनिषदों में अलग-अलग ढंग से कहा गया है।

उपनिषद् का सार-तत्व क्या है? इसी को समझाने के लिए बादरायण नाम के एक पण्डित ने एक पोथी लिखी। उस पोथी का नाम है ब्रह्मसूत्र। ब्रह्मसूत्र को वेदान्त सूत्र भी कहा जाता है।

और भी बहुत दिनों के बाद हमारे यहां के भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने ब्रह्मसूत्र पर ही भाष्य लिखा। उसमें छोटी-छोटी

जो बातें लिखी हैं, अपने भाष्य में उन्हीं को लाकर उन्होंने समझाने का दावा किया। मगर मुश्किल यह है कि एक से दूसरे भाष्य लिखने वाले के मत का मेल नहीं। फल यह हुआ कि वेदान्त कहने को आखिर तक कोई एक मत नहीं रहा। भिन्न-भिन्न मत के भिन्न-भिन्न दार्शनिक अपने-अपने को वेदान्तिक कहने लगे। इनमें से एक हुए शंकराचार्य। वेदान्त के नाम से उन्होंने जिस मत का प्रचार किया उसे अद्वैतवाद या अद्वैतवेदांत कहते हैं। इस मत के मुताबिक ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है—जीव और ब्रह्म एक हैं।

शंकराचार्य के सिवाय भी और-और दार्शनिकों ने उपनिषद् या वेदान्त के नाम पर अपना-अपना मत चलाया है। उनमें से हरेक ने यही कहा है कि उन्होंने जो कुछ भी कहा है, उनकी अपनी बात नहीं है, उपनिषद् की है। इसलिए बलपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि उपनिषदों में शंकराचार्य के सिवाय और कोई मत नहीं मिलता। खैर। अभी उस तर्क में हम नहीं जाना चाहते। हम केवल इतना कहेंगे कि शंकराचार्य का जो मत है, उसका परिचय उपनिषद् में मिलता है। यानी ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या का भाववाद उपनिषद् बेशक निखरा था। इसलिए भारतीय दर्शन में भाववादी या अध्यात्मवादी भावधारा के आविर्भाव की अगर बात करनी हो, तो संहिता से उपनिषदों तक की चर्चा करना ठीक है।

यद्यपि बाद के युग में उपनिषदों को वेद का शेष हिस्सा या वेदान्त कहा गया है, तथापि वेद और उपनिषद् के रचनाकाल में कई सदियों का बीच है। इन कई सदियों के अरसे

में मनुष्य के जीवन और विचार में कोई फ़र्क ही नहीं पड़ा होगा, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता।

फ़र्क कैसा ? पहले तो जीने के तौर-तरीकों के फ़र्क देख लें, विचार के फ़र्क का विचार फिर किया जाएगा।

जिन्होंने वेदों या संहिताओं की रचना की थी, वे कौन थे ? वे उस एक दल के लोग थे, जो इन्दो-यूरोपीय भाषा बोलते थे। इसके मानी ? मानी यह कि आज के पण्डितों ने यह साबित किया है कि बहुत-बहुत दिन पहले कासपियन सागर के किनारे एक जाति के लोग बसते थे। दिन बीतते गए और ये दलों में बंटकर—एक-एक दल धरती के एक-एक ओर—बिखर गए। कोई दल ग्रीस की ओर गया, कोई ईरान की ओर तो कोई भारत की ओर। इन दलों के लोगों की भाषा में बहुत-कुछ समानता है। इसलिए इस जाति की हर भाषा को इन्दो-यूरोपीय कहते हैं।

जिन्होंने वेद रचे थे, वे ऐसे ही एक दल के लोग थे। उन्होंने भारत आने के पहले वेद रचे थे या बाद में, अभी तक इस बात पर पण्डित लोग निश्चित तौर पर नहीं बता पाए हैं। मगर इन वेदों को पढ़ने से ही अन्दाज़ा लगता है कि वेदों की रचना के समय वे किस तरह जीवन बिताते थे।

आज के पण्डितों का कहना है, उनके रचे वेदों में ही इस बात के सबूत हैं कि वे ख़ास तौर से मवेशी पालकर गुज़र-बसर करते थे। खेती-बारी भी थोड़ी-बहुत उन्होंने ज़रूर सीखी थी।

मनुष्य के इतिहास की जो सब बातें साधारण तौर पर

मालूम हो सकी हैं, उन्हींसे यह मालूम होता है कि पशुपालन और खेती ने ही उनके जीवन में नया युग लाया था। पशु-पालन और खेती की बात साथ-साथ जरूर नहीं है। संसार में कहीं-कहीं पशुपालन से ही जीवन में आसमान-जमीन का अन्तर आया और कहीं-कहीं वह अन्तर आया खेती-बारी सीखने से। क्योंकि इन्हीं कामों की बदौलत मनुष्य ने ज्यादा चीज धरती से वसूलना सीखा। उससे पहले दल के सभी लोग मिहनत करके धरती से उतना भर ही पैदा कर पाते थे, जितने से कि दल के सब लोग किसी तरह जी-भर सकते थे। इसलिए दल के सब लोगों का समान होना जरूरी था। वह समाज आदिम साम्य-समाज था। लेकिन मवेशी पालना और खेती करना सीख जाने से पैदा करने की उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई। खुद को जिन्दा रखने के लिए जितना न होने से काम नहीं चल सकता, उससे ज्यादा पैदा करने लगे। इससे कुछ ऐसे लोगों के हो सकने के भी आसार दिखाई दिए, जो खुद मेहनत न करके औरों की मेहनत की कमाई हजम करके जिन्दा रह सकें। मनुष्य के समाज में इससे दो हिस्से साफ़ नजर आने लगे। एक ओर शोषित, दूसरी ओर शोषक। आदिम साम्य-समाज का खात्मा हो गया, श्रेणी-समाज शुरू हुआ।

यह परिवर्तन रातोंरात जरूर नहीं हुआ। इसमें बरसों लगे—कई सौ बरस। किन्तु हमारी आलोचना की जरूरी बात यह है कि पशुपालन की तरक्की लोगों को साम्य-समाज से श्रेणी-समाज की ओर ले गई। पशुपालन का युग इसीलिए मनुष्य के इतिहास की एक सीमारेखा है—उसके एक ओर है आदिम

साम्य-समाज और दूसरी ओर नया श्रेणी समाज।

वेदों में अगर पशुपालन का परिचय है, तो यह मानना पड़ेगा कि वह युग-सन्धि का साहित्य है। ये संहिताएं एक दिन में जरूर नहीं रची गई—हजारों-हजार साल में रची गई थी। यही कारण है कि तरह-तरह के समाज-जीवन के चित्र उनमें मिलते हैं। तरह-तरह के चित्र का मतलब ? एक ओर से तो ये आदिम साम्य-समाज की यादगारों से भरपूर हैं और दूसरी ओर उनमें नए श्रेणी समाज की तसवीर भी निखरती आती दीखती है।

दोनों के कुछ नमूने देखे जाएं।

कई बातों से यह अनुमान किया जा सकता है कि वेदों मे आदिम साम्य-समाज की यादगार कितनी स्पष्ट है, जैसे, संहिताओं की भिन्न-भिन्न शाखा-उपशाखाओं के नाम हैं। उन नामों से पता चलता है कि वे पशु-पक्षी, पेड़-पौधों के नाम पर हैं। सांप, मेढक, तीतर, वराह, पीपल आदि। ऐसे नाम रखने में टोटेम-विश्वास का हाथ है, यह समझने में दिक्कत नहीं रहती। टोटेम-विश्वास आदिम साम्य-समाज का ही लक्षण है। इसलिए ये नाम इस बात की याद दिलाते हैं कि वैदिक लोगों का आदिम साम्य जीवन बहुत ज्यादा पुरानी बात नहीं है।

या वैदिक समाज की सभा-समिति की बात आज भी संसार के नाना स्थानों में जो लोग आदिम साम्य-समाज मे हैं, उनको देखकर जाना जाता है कि वैसे समाज को चलाने के सभा और समिति का कितना महत्त्व है।

संहिता में जितनी कविताएं हैं, सब में कोई-न-कोई कामना

है। गाय, अन्न, सोमरस, बाल-बच्चे—
की कामना। किन्तु जो बात खास तौर
वह है कि 'मुझे दो' या 'मेरा यह हो'—व
बात संहिता में बहुत ही कम है—एक प्रका
उसके बदले जो कामना है उसका रूप ऐसा
यह हो—हम लोगों का वह हो! यानी जो
है, दल के सभी के लिए—एक या अपने लिए
ऐसे और भी नमूने हैं।

जानना यह है कि संहिता-साहित्य में क्या
का परिचय पाया जाता है? यह बड़ा टेढ़ा सवा
बाद में संहिता की कुछ बातों का अर्थ एकदम ब
शुरू में उनका मतलब क्या रहा था, हम यह कतई
उदाहरण के तौर पर दो शब्द लिए जाएं—देवता
बाद में दोनों ही शब्द अध्यात्मवाद से सम्बन्ध र
देवता की पूजा की जाती है, यज्ञ किया जाता है, प
कुछ पाने के लिए। लेकिन संहिताओं के पढ़ने से मालू
कि 'देवता' का पूजा-पाठ से कोई सरोकार नहीं—
रुण, इन्द्र, पूषण—ये सभी मानो दल के नेता हों। औ
आजकल जैसा परलोक में कुछ पाने का क्रिया-कर्म स
ा है, संहिता के पुराने अंशों में कम-से-कम वैसा ही
बल्कि बहुत सम्भव है कि वह मिल-जुलकर उपजाने
चेष्टा हो।

आदिम साम्य-समाज में एक से दूसरे मनुष्य का सम्बन्ध
इतना सहज था, समान था कि

ही उनकी चेतना में नहीं आई। हम कहा करते हैं, सच बोलना ठीक है, झूठ बोलना अन्याय। दूसरों की मदद करना उचित है, न करना अनुचित—ऐसी अनेक बातें है। लेकिन जब तक मनुष्य-समाज में एक और दस का स्वार्थ अलग नहीं हुआ था, तब तक उनके माथे में ऐसे न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित का विचार आने की गुंजाइश ही नहीं थी। उसके बदले उन पर अटूट नियम का बेतरह प्रभाव था। उस अवस्था में प्रकृति से मनुष्य का सम्बन्ध मानो लट्टू का था। इसलिए जिस अटूट नियम से मनुष्य का जीवन बंधा था, उसी नियम के कारण पूरब में सूरज उगता, काली गाय सफेद दूध देती—और भी जानें कितना क्या?

ऋग्वेद में इस नियम को ऋत कहा गया है। ऋत का सही मतलब तो क्या होता है, आज यह बता सकना कठिन है। उसका कारण है कि मनुष्य से मनुष्य के जिस सहज सम्बन्ध से इस चेतना का जन्म है, उसकी निशानी भी मन से धुल गई है।

यह हम कह चुके हैं कि पशु-पालन की उन्नति होते-होते ही मनुष्य का वह आदिम साम्य-समाज टूट गया। उस टूटने की शुरुआत संहिताओं में भी देखी जाती है। संहिता में कहीं ऐसा भी पाया जाता है कि कवि कहते हैं—पराये अन्न पर पलने की ग्लानि से जैसे हम और हमारे सगे लोग मुक्ति पा सकें। कहीं वे घबराकर प्रार्थना करते पाए जाते हैं कि हम लोग जिसमें एक हो सकें। ये तस्वीरें साम्य-समाज के टूटने का लक्षण बताती हैं।

टूटने की शक्ल और साफ होकर
बाद के साहित्य में। उस साहित्य का
रेय ब्राह्मण में कहा गया है कि यज्ञ देवत
कर चले गए कि 'मैं तुम्हारा अन्न नहीं
नहीं, बार-बार यह बात आई है। इससे
है कि समाज में कितना परिवर्तन हो रहा
अन्न का उपाय था यज्ञ और यज्ञ का मतलब
की मिली-जुली कोशिश। समाज टूट रहा है
हो रहा है। ऐतरेय ब्राह्मण में ही यह भी
ब्राह्मण और क्षत्रिय ने यज्ञ का पीछा किया
ब्राह्मण ही यज्ञ को पकड़ लाया। इसका अभि
बाद में ब्राह्मणों ने क्रियाकाण्ड को जो यज्ञ कहा,
और कुछ नहीं है। आदि और सचमुच का यज्ञ
था, वह उसके बदले दूसरा कुछ हुआ। इसी परिवर्त
साथ यह भी देखा जाता है कि वैदिक देवताओं का
बिलकुल बदल रहा है। एक देवता की मिसाल लें
म है वरुण। संहिता में पाते हैं कि वह देवता मनुष्य
मददगार है। वे मनुष्य को बुद्धि देते हैं, धन-दौलत
कारण ऐतरेय ब्राह्मण ही में जब फिर से उनका आविर्भा
है, तो उनके चरित्र में क्रोध के सिवाय कुछ नहीं रह
है। और क्रोध भी कितना घिनौना! कहीं-कहीं बरु
दम करने लगता है। राजा हरिश्चन्द्र को लड़का नहीं हु
उन्होंने वरुण के सम्मुख मानी कि लड़का हो
बेट पैदा हुआ। हरिश्चन्द्र ... लड़का हो ...

वरुण ने कहा, तुमने लड़का देने का वादा किया था—दो। राजा ने कहा, वगैर दस दिन हुए पशु भी वध के लायक नहीं होता, दस दिन जी लेने दीजिए। दस दिन के बाद वरुण ने कहा—तुमने लड़का देने का वादा किया था—दो। राजा ने कहा—दांत उग आएं, दे दूगा। रोहित के दांत निकले। वरुण ने कहा, अब दे दो। राजा ने कहा, इसके दूध के दांत टूट जाएं, फिर दे दूगा। दूध के दांत टूटते ही वरुण फिर आ धमके। वादा किया था—अब दे दो। इस तरह बार-बार किसी-न-किसी बहाने राजा टालते जाते और बार-बार वरुण पठान सूदखोर की तरह बाकी वसूलने पहुच जाते।

समाज टूट रहा था। मनुष्य के मन मे अंधा लोभ जाग रहा था। उस देवता में, उसके लोभ मे इसी की परछाई है।

आदिम साम्य-समाज के टूटने से एक ओर बनने लगे राजा और दूसरी ओर दिखाई देने लगे गरीव-गुरबे। ऐसे एक गरीव का नाम था अजीगर्त। स्त्री और तीन बेटों के साथ बेचारा फाके पर दिन काटता। राजा हरिश्चन्द्र ने सौ गाये देकर उसके बदले उसके मझले लड़के को खरीद लिया और उसी खरीदे हुए लड़के से वरुण का कर्ज उतारना चाहा।

यानी साम्य-समाज टूट गया था। नकद दाम पर आदमी की खरीद-बिक्री शुरू हो गई थी।

और ऋत का क्या हुआ? साम्य-जीवन का जो स्वाभाविक न्याय-बोध था, उसका? वह भी सुनिए।

अजीगर्त के उस मंझले लड़के का नाम था शुनःशेप। वरुण के सामने वलि के लिए जब उन्हें यूपकाष्ठ से बांधा गया,

तो पुरानी याद को ताजा करने के लिए उन्होंने कुछ कविताएं बनाईं। उनमें उन्होंने कहा—

हमें अपने किए पापों से मुक्त करो।

निर्ऋति को दूर रखो।

आपस में समानता का जो सम्बन्ध था, वह चूर-चूर हो चुका था। ऋत की जगह निर्ऋति ने ले ली थी। निर्ऋति का माने ऋत का ठीक उलटा है। शुनःशेप ने पुराने न्याय के ज्ञान को जगाना चाहा। यह है ब्राह्मण-साहित्य की बात।

ब्राह्मण के बाद उपनिषद्। उपनिषद् में ही भाववादी विचार ज्यादा स्पष्ट है। मगर उस भाववाद में क्या सबके मन की बात है? बिलकुल नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् की एक कहानी में खूब साफ तौर से कहा गया है कि जो राजा हैं, उपनिषद् के अध्यात्मवाद में केवल उन्हींके मन की बात है। उस कहानी का नाम है—श्वेतकेतु प्रवाहण संवाद। थोड़े में उस कहानी को कह ही दें, क्योंकि अध्यात्मवाद से ठीक किस श्रेणी के लोगों का लगाव है, यह बात इससे साफ-साफ और कहीं नहीं लिखी गई।

श्वेतकेतु राजसभा में गए थे। वहां राजा के प्रवाहण नाम के एक मुसाहब ने उनसे अध्यात्म पर कुछ प्रश्न पूछे। श्वेतकेतु उनमें से एक का भी जवाब नहीं जानते थे। सो दरबार से लौटकर उन्होंने पिता से कहा कि मुझे ये बातें आपने क्यों नहीं सिखाईं? पिता ने कहा—मैं क्या करूँ? मैं खुद ही तो इनके बारे में कुछ नहीं जानता। और श्वेतकेतु के पिता खुद दरबार को चल पड़े। राजा से उन्होंने कहा, अध्यात्म पर मुझे उपदेश

दीजिए। राजा ने उनसे कहा था, अब तक क्षत्रिय को छोड़कर यह विद्या कोई नहीं जानता था। इसलिए हर जगह क्षत्रियों में ही शासन करने की ऐसी क्षमता है—तस्माद् सार्वेषु लोकेषु क्षत्रस्येव प्रशासनमभूत्।

तो उपनिषद् का भाववाद ठीक किस वर्ग के लोगों का ठहरता है! उपनिषद् में ही लिखा है, जो शासक है, जो राजा है, यह दर्शन केवल उन्हीं को मालूम था। यही नहीं, उपनिषद् में एक और भी बहुत जरूरी बात लिखी है। लिखी है कि इस अध्यात्मवादी दर्शन की बदौलत ही शासकों में शासन की इतनी क्षमता है। अध्यात्म ही शासकों के शासन का एक हथियार है, यह बात और कहीं इस ज़ोर से नहीं लिखी है।

यही है भारतीय दर्शन के आविर्भाव की कहानी।

लोकायत का अर्थ क्या है?

मगर देश के आम लोग? उनके मन की बात कैसी थी? वे किस धार्मिक मत का विश्वास करते थे?

हमारे यहां इस विषय में आम लोगों के ख़याल-विचार का नाम लोकायत है। लोकेषु आयतो, लोकायतः। चूंकि यह साधारण लोगों में फैला है, इसलिए इस मत को लोकायत कहते हैं। किन्तु लोकायत का दूसरा अर्थ भी होता है। उस अर्थ के मुताबिक जो लोग केवल इसी लोक को सत्य मानते हैं, उन्हें को लोकायत या लोकायतिक कहते हैं। इस लोकायत पर कभी पोथी-पत्तर भी लिखा गया था, इसके बहुत सबूत हैं। मगर वे पोथी-पत्तर अब हैं नहीं। हो क्या गए वे? बहुतों का ऐसा

खयाल है कि तब के शासकों ने उन्हें फूंक दिया। लोकायत दर्शन के कुछ चिह्न जहां-तहां रह गए हैं, वे भी विरोधियों की रचना में : उनका मजाक उड़ाने के लिए ही विरोधियों ने कहीं-कहीं उनकी कुछ बातों का जिक्र किया है। उन्हीं बातों से यह पता चलता है कि लोकायतिक लोग ईश्वर नहीं मानते थे। आत्मा को नहीं मानते थे, स्वर्ग-नरक नहीं मानते थे। वे कहते थे, इन आंखों से जो कुछ देख सकते हैं उसके सिवाय और कुछ को सत्य नहीं माना जा सकता। यह मानने से मुसीबत हो सकती है। मुसीबत कैसी? मुसीबत यह कि दूसरों को धोखा देनेवाले, धर्म के ठगनेवाले लोग अनुमान, शास्त्र या वैसे ही कुछ प्रमाण देकर लोगों के जी में धर्मांधता पैदा करके उन्हें ठगना चाहते हैं। लोकायतिकों के बारे में उस युग के मणिभद्र नाम के लेखक ने यह लिखा है।

दुःख की बात है कि लोकायत दर्शन के बारे में हमारे यहां आज तक वैसी खोज-पड़ताल नहीं हुई। कारण पहले ही बता चुके हैं कि यहां के बड़े-बड़े पण्डितों का भी खयाल था कि अध्यात्मवाद ही हमारे यहां का असली गौरव है। यहां तक कि बहुतों ने कहा भी है, भारत में शायद अध्यात्मवाद को छोड़कर और किसी दार्शनिक मत के लिए जगह नहीं थी। इससे बड़ी भूल धारणा और हो नहीं सकती। क्योंकि लोकायतिक मत के अलावा भी हमारे यहां वस्तुवादी विचार का और परिचय पाया जाता है। जैसे सांख्य मत। शुरू में यह मत घोर नास्तिक और वस्तुवादी था, बाद में इसमें ईश्वर को जोड़कर इसे किसी हद तक आस्तिक बनाने की कोशिश की गई थी।

के अलावा बौद्ध दानिशमन्दों में भी दो दल थे जिनके नाम त्रान्तिक और वैभाषिक हैं, वाहरी दुनिया को सत्य मानकर ार किया है।

लेकिन बौद्ध दानिशमन्दों की इससे भी जो वड़ी बात है, है गति या परिवर्तन को सत्य का मान देने की चेष्टा करना। चेष्टा भारत के और किन्ही दूसरे दार्शनिको मे इस तरह ी दिखाई पड़ी। बौद्धों की प्रधान बात थी—सर्वं क्षणिक—-कुछ चन्दरोज़ा है; पैदा होता है और मरता है, थिर कुछ भी नही है। यह ध्यान देने की बात है कि बाद के वेदान्तिकों ने न केवल वास्तव जगत को भ्रम बताकर उड़ाने की कोशिश की बल्कि गति या परिवर्तन को भी माया और मिथ्या साबित करने की चेष्टा में कुछ उठा नही रखा।

यहां इतना अवसर नहीं है कि भारतीय दर्शन की सभी बातों की आलोचना की जा सके। उससे बेहतर है कि दर्शन के इतिहास की जो मूल समस्या है, सिर्फ उसी की चर्चा करें।

वह मूल समस्या क्या है? भाववाद बनाम वस्तुवाद की समस्या। कागज-पत्रों से मालूम होता है कि भाववाद से शासक-वर्ग का सम्बन्ध रहा था। दूसरी ओर देश के आम लोगों का जो दर्शन था, वह वस्तुवाद के सिवाय और कुछ नही था। उसीका नाम है लोकायत।

वस्तुवाद ही जनसाधारण का दर्शन बना रहा। और शासक-वर्ग का दर्शन अध्यात्मवाद क्यों बन गया? पुराने पोथी-पत्रों मे इसका साफ उत्तर मिल जाता है।

लोकायतिक लोग मिहनत की कमाई पर विश्वास करते

थे—और चूंकि धूल की धरती से उनका ऐसा सरोकार था, इसलिए वे उसे माया या मिथ्या नहीं समझ सके। इसका सबूत ? लोकायत के मत से वार्ता ही एकमात्र विद्या है। वार्ता के मानी ? उसके मानी ख़ास तौर से खेती-बारी है।

साधारण लोगों के ख़याल-विचार लोकायत हैं। साधारण मनुष्य कौन ? जो काम-काज करते, खेती-बारी करते, वही।

वे काम करते थे—धरती से लिपटे पड़े थे। इसीलिए उनके मन से धरती की बात मिट नहीं सकी।

लोकायतिकों ने वार्ता या खेती को जिस तरह मुख्य विद्या कहा, उसी तरह शासक-वर्ग के लिए काम करना, खेती करना नफ़रत की बात हो गई, छोटे लोगों का लक्षण बन बैठा। जैसा कि मनु आदि नियम-कानून बनानेवालों ने बार-बार कहा है कि ऊंची जात के लोगों के लिए खेती करना ठीक नहीं है। खेती करने से जात जाती है—खेती से वेद-ज्ञान का मेल नहीं बैठता।

प्राचीन ग्रीस में जैसा था, अपने यहां भी उस युग में वैसा ही था। एक वर्ग के लोगों ने जितना ही मेहनत से घृणा करना सीखा, उतना ही उनके मन से बाहरी दुनिया की बात धुलती चली गई—उन्होंने सोचा, मन ही सर्बस है, चेतना ही परम सत्य है। इसीको कहते हैं भाववाद। भारतीय दर्शन में यह बात और भी स्पष्ट है। क्योंकि यहां के वेदान्तिकों ने इसी पर सवाल उठाए कि ज्ञान बड़ा है या कर्म। और जो सबसे बड़े भाववादी दानिशमन्द हुए, उन शंकराचार्य ने ज़ोरों से यह साबित करने की कोशिश की है कि ज्ञान कहीं बड़ा है, कर्म

रही छोटा। यही नहीं, उनका कहना था कि जब तक तुम सब प्रकार के कर्म से नाता नहीं तोड़ लेते, तब तक किसी भी तरह दार्शनिक ज्ञान नहीं हो सकता।

मध्ययुग की बात

तो प्राचीन ज़माने में ही अध्यात्मवाद का उदय हुआ। क्यों हुआ, यह हम कुछ-कुछ बता चुके।

सत्य की खोज में मनुष्य की यात्रा के बाद के युग को अन्धकार-युग कहा जाता है। इतिहास की भाषा में उसका नाम है मध्ययुग। मध्ययुग को अन्धकार युग क्यों कहा जाता है? क्योंकि उस युग की मूल बात ही रही—मानना पड़ेगा। 'जानना पड़ेगा' नहीं, 'मानना पड़ेगा'। क्या मानना पड़ेगा? शास्त्र का वचन। धर्म की पोथी में जो लिखा है, उससे बढ़कर सत्य और कुछ हो ही नहीं सकता। इसलिए आंखों देखकर या दिमाग लड़ाकर सत्य को खोजने की कोशिश बेवक़ूफ़ी है। अगर सत्य को ढूंढ़ना है तो शास्त्रों को ही भली तरह समझो। उस पर टीका लिखो, टिप्पणी लिखो। अपनी बुद्धि के भरोसे सत्य की खोज में मत निकालो। वैसा करना बेवक़ूफ़ी ही नहीं, पाप है। क्योंकि शास्त्रों में जो लिखा है, वह भगवान की ही बात है। उसे न मानने के माने हैं भगवान की बात को न मानना। जो ऐसा करेंगे, उन्हें कड़ी सज़ा मिलेगी।

मध्ययुग में तमाम संसार का यही हाल था—हमारे यहां का भी, विदेशों का भी। इसलिए इस युग में सत्य की खोज में खास कोई बड़ा काम नहीं हो सका। उसके बदले पहले की

पोथियों पर ढेरों टीका और भाष्य तैयार हुए, बाल की खाल खींची जाती रही। उन विचारों में दिमागी कसरत हो सकती है—थी भी यही। फिर भी सब-कुछ बेकार-सा। क्योंकि जिस सांचे में ये सारी चेष्टाएं ढली, वही अकारण था, व्यर्थ था। एक बात को घुमा-फिराकर उसका कितना मतलब निकाला जा सकता है, यह देखकर हम दंग भले ही रह सकते हैं, पर यह नहीं भूलना चाहिए कि जो इस तरह हमें दंग किए दे रहे हैं, वे खुद उसी छोटे से घेरे में घिरे हैं—उससे बाहर जा ही नहीं सकते।

यों समझिए कि गंदले पानी का एक पोखरावाला हाला-धार नहीं, लहर नहीं—शान्त पड़ा है। सेवार से भरता जा रहा है। उसमें तरह-तरह के पौधे, कीड़े-मकोड़े पैदा हो रहे हैं। पानी सड़ रहा है और कीटाणु की औलाद बढ़ रही है। ऐसे में जीवन के छन्द से उसे सुन्दर तो नहीं कहा जा सकता।

मध्ययुग में मनुष्य की विचार-धारा निश्चिन्त-सी हो गई थी। पर आगे नहीं बढ़ सकी। क्यों?

जमींदार, सामन्त और पुरोहितों का शासन ही क्या इसका कारण था?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जमींदार और पुरोहित-सामन्तों के शासन ने मध्ययुग की विचार-धारा के हाथ-पांव तोड़ रखने का इन्तजाम किया था। किन्तु इतना ही जानने से मध्ययुग के अन्धकार को पूरी तरह नहीं जाना जा सकता। इसके सिवाय भी उसका गहरा कारण था।

दरअसल मध्ययुग का समाज ही ऐसा था कि उसमें पूर्वी

को नए सिरे से जानने-जीतने की प्रेरणा रह ही नहीं सकती। उसे जीतने की लगन नहीं थी, इसलिए जानने की भी लगन नहीं थी। पृथ्वी को जीतने का ही दूसरा रुख है उसको जानना। जीतना और चीन्हना दो बातें नहीं हैं, एक ही तसवीर के दो रुख हैं।

पृथ्वी को जीतने की प्रेरणा क्यों नहीं थी, यह जानना हो, तो उस समाज के लोगों की बात याद रखनी होगी।

यूरोप के सामन्ती समाज की बात ही लें। आदमी कहने को उस समाज में दो ही तरह के लोग थे—एक ओर सामन्त जमींदार और पुरोहित—दूसरी ओर भूमिदास। सामन्त, पुरोहित और जमींदारों को धन-दौलत चाहिए थी, शौक-मौज की चीजें चाहिए थीं! उसके लिए तो अनगिनती भूमिदास थे ही—वही बेगारी करेंगे। इस तरह दूसरों की पैदा की हुई सम्पत्ति को हड़प कर पाने से ही सामन्तों को गुलछर्रे उड़ाने का काफी मौका मिलेगा। और बेचारे भूमिदास! जमीन के साथ मानो वे जंजीर से जकड़े हों। उनकी तकदीर बैठ गई थी—हजार कोशिश चाहे करें, उनकी किस्मत पलटने की उम्मीद उन्हें नजर नहीं आती थी। जिन्हें अपने भविष्यत की कोई उम्मीद न हो, वे फिर किस उत्साह से धरती को जीतने का साहस करें?

मध्ययुग की संक्षेप में यही दशा थी। इसलिए आविष्कार की धुन में वैसा माटा पड़ गया था।

मध्ययुग के सामन्त-समाज को तोड़कर नई समाज-व्यवस्था कैसे सामने आई, इसका परिचय हम पिछली पुस्तकों में दे चुके

हैं। विचारों की दुनिया में भी जिन्होंने जिन्दगी को खतरे में डालकर, ज्ञान की मशाल लिये मध्ययुग के अन्धेरे को दूर करना चाहा था, उनके बारे में भी कुछ-कुछ कहा जा चुका है। यहां खासतौर से आधुनिक युग के दर्शन पर विचार करें।

आधुनिक युग : बुद्धि या अनुभव

आधुनिक युग के आरम्भ में विचारकों के लिए सबसे बड़ी प्रेरणा हुआ विज्ञान! इसी विज्ञान की बदौलत आदमी धरती पर मानो नई धरती बनाता चल रहा है। लिहाज़ा दानिशमन्दों के सामने भी एक ही समस्या रही—विज्ञान को ठीक से चीन्हना चाहिए, समझना चाहिए। जिस कारण से विज्ञान को इतनी कामयाबी है, उसे जानकर दर्शन की दुनिया में भी उसी ढंग को अख्तियार करना चाहिए ताकि वैसी ही सफलता मिल सके। आधुनिक युग के आरम्भ में हर बड़े दानिशमन्द की यही असली चिन्ता और चेष्टा रही।

विज्ञान के मानी? विज्ञान की इतनी सार्थकता क्यों है? इस सवाल का जवाब ढूंढ़ने में दानिशमन्दों का दल दो हिस्सों में बंट गया। एक को कहते हैं बुद्धिवादी और दूसरे को अनुभववादी।

बुद्धिवादी कौन हैं? इसमें तीन बड़े दार्शनिकों के नाम लिए जाते हैं—देकार्यस, स्पिनोज़ा, लिबनिज।

और अनुभववादी कौन हैं? इनमें मुख्य तीन हैं—लॉक, बर्कले और ह्यूम।

इनका मूल रूप में क्या कहना है, यह देखें।

बुद्धिवादियों की राय में विज्ञान का असल है गणित। इसलिए दर्शन में गणित को लाना चाहिए। दर्शन में गणित को लाने का क्या मतलब ? यही कि दर्शन की समस्याओं को सुलझाने के लिए उसी तौर को अपनाना चाहिए, जिसे गणितज्ञों ने अपनाया है। यानी समस्या तो रहेगी दर्शन की, पर सुलझाने का तरीका होगा गणित का। क्योंकि बुद्धिवादियों के मत से गणित का तरीका ही वैज्ञानिक तरीके का चरम है।

दर्शन की समस्या क्या है ? संक्षेप में कहें तो यही कि सारी दुनिया की एक व्याख्या खोज निकालना।

तो यह देखें कि गणित के तरीके से बुद्धिवादियों का क्या मतलब है ?

उन्होंने गणित के तरीके से यही समझा कि केवल बुद्धि के सहारे आगे बढ़ने की कोशिश करना। अनुभव नहीं, बुद्धि। यानी इन्द्रियों के सहारे अनुभव के भरोसे ज्ञान पैदा करना नहीं। इसलिए ये बुद्धिवादी दानिशमन्द कहलाए। इन्होंने ऐसा क्यों सोच लिया कि गणित बुद्धि के सिवाय और किसी बात पर निर्भर नहीं करता ? पियेगोरस पन्थियों की आलोचना करते हुए इस प्रश्न का थोड़ा-बहुत जवाब हम पा चुके हैं। गणित-विज्ञान में जिसकी आलोचना की जाती है, उसे आंखों देख सकना, इन्द्रियों के सहारे जान सकने का उपाय नहीं। उसे केवल बुद्धि से ही जाना जा सकता है। इसलिए गणित का असली तरीका बुद्धि पर ही निर्भर करना है। जैसे, गणित-विज्ञान की एक शाखा का नाम है अंकगणित। इसमें अंकों का कारबार है। लेकिन अंक को इन्द्रियों से नहीं जाना जाता,

बुद्धि से समझना पड़ता है। गणित-विज्ञान की एक दूसरी शाखा है ज्यामिति। ज्यामिति की दुनिया रेखाओं की है। तो रेखा की बात लें। ज्यामिति के हिसाब से रेखा में लम्बाई होती है, चौड़ाई नहीं। लेकिन ऐसे कुछ को आंखों देखना क्या मुमकिन है? नहीं। ज्यामिति पढ़ते समय कागज पर खींचकर जिन लकीरों को हम रेखा कहते हैं, वे वास्तव में तो रेखा नहीं हैं। क्योंकि उनमें लम्बाई के अलावा चौड़ाई भी होती है। हम जितनी ही बारीक लकीर क्यों न खींचे उसमें कुछ-न-कुछ चौड़ाई जरूर होती है। न हो तो वह आंखों से देखी ही नहीं जा सकती। इसीलिए ज्यामिति पढ़ते समय रेखा खींचकर हम कहते हैं—मान लीजिए कि यह एक रेखा है। क्योंकि कागज पर जिसे देखते हैं, वह रेखा नहीं होती—उसके चौड़ाई जो है! फिर भी समझने के लिए उसी को तब तक रेखा मान लेते हैं। जैसे, भूगोल पढ़ाते समय एक नारंगी दिखाकर कहें, मान लीजिए यह पृथ्वी है। उसका मतलब यह तो नहीं होता कि नारंगी ही पृथ्वी है।

इसलिए बुद्धिवादियों ने सोचा, गणित-विज्ञान में अनुभव के ऊपर निर्भर करने का कोई लक्षण ही नहीं है। गणित का कारोबार सिर्फ बुद्धि पर है। और चूंकि आदर्श विज्ञान का अर्थ गणित विज्ञान ही है, इसलिए बुद्धि पर ही निर्भर करना विज्ञान का आदर्श है।

अब यह देखें कि इस तरीके से समस्या का हल निकालने की कोशिश में बुद्धिवादी दानिशमन्दों का सम्प्रदाय अन्त में कहां पहुंचने को मजबूर हुआ?

पूरी दुनिया की व्याख्या खोजना दर्शन की समस्या है। इसका हल, उन्होंने अनुभव को एकबारगी छोड़कर केवल बुद्धि के सहारे ढूंढ़ना चाहा।

किन्तु अनुभव को अगर एकबारगी छोड़ दिया जाए, तो उसी के साथ सारी दुनिया के सम्बन्ध की चेतना भी छूट नहीं जाएगी क्या ? जरूर छूट जाएगी। क्योंकि दुनिया से हमारी चेतना का सम्बन्ध अनुभव के ही आधार पर है। आंखों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं—अगर इस तरह से जान नहीं सकते तो दुनिया की बातें हमारी चेतना में झांकतीं कैसे ? इसलिए अनुभव को एकबारगी छोड़ दें तो अखीर तक सारी दुनिया को ही छोड़ बैठना पड़ेगा।

बुद्धिवादी दानिशमन्दों के साथ यही बात हुई। बुद्धिवाद के बटखरे से दुनिया की व्याख्या निकालने में वे सारी दुनिया को ही अस्वीकार करने को मजबूर हुए। कैसे, थोड़े में यह बताएं।

बुद्धिवादियों में पहले दानिशमन्द हुए देकार्यस। बहुत बार उन्हींको आधुनिक दर्शन का संस्थापक कहा जाता है। देकार्यस ने बताया, शुरू करना चाहिए सन्देह से। किसी बात को सीधे न मानकर जब तक बन सकेगा, उस पर सन्देह करेंगे; सब कुछ पर, सब बात पर सन्देह करेंगे। इस तरह सन्देह करते-करते अखीर में कोई ऐसी बात मिल जाए, जिस पर सन्देह करने की कोई गुंजाइश ही न रह जाए, तो उसीको सत्य मानेंगे। सन्देह पर इतना ज़ोर क्यों दिया गया ? इसे मध्ययुग की दशा से निकल आने की कोशिश कहिए। मध्ययुग की मूल

बात क्या थी ? वह थी—मानना पड़ेगा
कहने का असली मतलब क्या निकला ? य
सन्देह करेंगे और सन्देह के ही सहारे आगे

जो कुछ हम इन्द्रियों के सहारे जानते है
मानेंगे ? देकार्यंस् ने कहा—हर्गिज नहीं । व
हमें हर घड़ी धोखा देती हैं । धुधलके में रस्स
है, बिछावन पर सोये-सोये कितने सुन्दर-सुन्
! । जब तक स्वप्न देखते रहते हैं, तब तक तो
गते हैं। ऐसे में स्पष्ट प्रत्यक्ष का कौन-सा मूल्य
सो प्रत्यक्ष के भरोसे नहीं रहा जा सकता—प्रत्य
किया जाता है, प्रत्यक्ष को सन्देह करना पड़ेगा ।

केवल प्रत्यक्ष को ही नहीं । देकार्यंस ने कहा—
—एक-एक कर सोच देखना होगा कि और किन-किन
सन्देह किया जाए, और किन-किन विषयों पर सन्दे
सम्भव है । सन्देह करते-करते एक जगह पहुंचकर दे
देखा, अब किसी भी तरह से सन्देह करते नहीं बन पा र
सन्देह की यह हद ठीक कहां है ? कहां पहुंचकर हम यह स
हैं कि अब मानना ही पड़ेगा—अब सन्देह की गुंजाइश न
यह हद इस प्रश्न पर आती है, जब हम पूछते हैं कि मैं हू
नहीं ? क्योंकि अपने अस्तित्व को भी सन्देह करें, तो भी
न्देह के नाते भी अपने अस्तित्व को मजबूरन मानना पड़ेगा
इसलिए कि मैं ही नहीं हूं तो सन्देह कौन करता है ?

अतएव सन्देह करते-करते अन्त में एक सत्य पाया गया
जानी गई एक ऐसी बात, जिस

नहीं किया जा सकता। वह बात है कि मैं हूँ। दुनिया से हम जो कुछ भी समझते हैं, उस पर सन्देह किया जा सकता है, मगर इस एक बात को किसी भी तरह से सन्देहजनक समझने की गुंजाइश नहीं। लिहाज़ा दर्शन के मामले में अगर हम अनिश्चयता के हाथों से छुटकारा चाहते हैं तो इसी बात से शुरू करना पड़ेगा।

पहला सवाल होगा—'मैं हूं' इसके मानी क्या ? 'मैं' से ठीक क्या समझा जाता है ? 'मैं' के मानी क्या मेरा शरीर-भर है ? देकार्थस ने बताया—नहीं। ऐसा हो ही नहीं सकता। क्योंकि सपने में तो हम देह के बारे में ही बहुत बातें देखते है, पर नींद टूटते ही पाते हैं कि सब भूल है। इसलिए 'मैं' के मानी 'मेरी देह' नहीं है मगर मैं से अपनी देह को न समझें तो दूसरा क्या समझें ? देकार्थस ने बताया। मैं के मानी मेरी चिन्तन-शक्ति, मेरी बुद्धि है। मेरी चिन्तन-शक्ति ही मेरी सत्ता का सबूत है। मैं हूं, इसका सबसे बड़ा सबूत यही है कि सोचता हूं।

देकार्थस् ने कहा, इसी बात से सत्य के विचार की कसौटी पाई जाएगी। यानी कौन-सी बात सत्य है, कौन-सी झूठ, यह जानना हो तो इस पर गौर करना होगा कि कौन-सी बात 'मैं हूं या मैं चिन्ता करता हूं' जैसी साफ और स्पष्ट है। अपनी बुद्धि के आगे जो बात इतनी सत्य और स्पष्ट हो, वही बात सत्य है।

इसका मतलब यह हुआ कि बुद्धि का विचार ही सबसे बड़ा विचार है।

इसके बाद देकार्थस ने यह दिखाने की कोशिश की कि

मेरी बुद्धि में वैसी ही एकसाफ़ और स्पष्ट धारणा हुई—ईश्वर की धारणा। इसलिए मानना ही पड़ेगा कि ईश्वर है। और चूंकि ईश्वर मंगलमय है, धोखा नहीं देते इसलिए मानना पड़ेगा कि उन्होंने हमारे सामने जिस जगत को सिरजा है, वह मिथ्या नहीं हो सकता। इस तरह ठीक जिन बातों पर सन्देह करके देकार्यस ने अपने दर्शन को शुरू किया था, ठीक उन्हीं बातों को स्वीकार करके, उन्हींको सत्य मानकर उन्होंने अपने दर्शन का उपसंहार किया।

लेकिन ऐसा नहीं है—स्पिनोज़ा ने मानो यही दिखाना चाहा। स्पिनोज़ा ने भी बुद्धिवाद से ही आरम्भ किया—गणित के आदर्श को ही सबसे बड़ा आदर्श मानकर अपनाया। लेकिन देकार्यस ने आखीर में ऐसी कुछ बातें कबूल कर लीं। ऐसी विचार-धारा से गठबन्धन कर लिया। जिससे बुद्धिवाद को ही तिलांजलि देनी पड़े। यानी समझौता-विहीन बुद्धिवाद का आखिरी नतीजा क्या होता है, मानो इसे देकार्यस ने देखकर भी नहीं देखा, समझते हुए भी नहीं समझा। यह बात स्पिनोज़ा के दर्शन में पकड़ में आई। उन्होंने यह बताया कि शुरू में अगर बुद्धि को ही ज्ञान का मूल स्रोत मान लिया जाए, अगर यह मान लिया जाए कि गणितविज्ञान का आदर्श ही दर्शन का आदर्श है, तो अन्त में अनुभव से पाए हुए जगत् को, जगत् के परिवर्तन को—किसी भी चीज़ को सत्य की मर्यादा नहीं दी जा सकती। कहना ही पड़ेगा कि जगत् मिथ्या है, गति मिथ्या है—रूपहीन, गुणहीन, गतिहीन, ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। इसी निराकार, निर्विकार और निर्गुण ब्रह्म को मानना हो तो

अनुभव से प्राप्त सब प्रकार के खयाल-विचार को जलांजलि देनी पड़ेगी।

बुद्धिवाद का आखिरी नतीजा यह हुए बिना दूसरा उपाय नहीं। क्योंकि बुद्धिवाद के मुताबिक इन्द्रियों के ज़रिये हम जो कुछ भी जानते हैं, उसकी कोई कीमत नहीं है—वह सब सत्य हो नहीं सकता। और इधर रूप, रस, गन्ध, शब्द, जन्म, मृत्यु जो भी है, सब उन इन्द्रियों के ज़रिये पाया जाता है, अनुभव से पाया जाता है।

लिहाज़ा स्पिनोज़ा की मूल बात जो है, वह है जगत-नाश की ही बात। दुनिया की व्याख्या क्या ढूढ़ने गए, उन्होंने सारी दुनिया को उड़ा ही दिया। उनके निर्विकार-निराकार ब्रह्म के बारे में कहते हुए इसीलिए हेगेल ने कहा है—यह मानो सिंह की एक गुफा है। गुफा में जाने का चरण-चिह्न तो है, लेकिन लौटने के पैरों की छाप नहीं पड़ी है। यानी ससार की व्याख्या करते हुए ब्रह्म तक पहुंच जाने से दुनिया गायब हो जाती है। जगत् से ब्रह्म की ओर जाया जा सकता है, लेकिन ब्रह्म से जगत् की ओर लौटा नहीं जा सकता।

बुद्धिवाद की असली मुसीबत यही है। अनुभव को एक-बारगी नाचीज़ समझकर अगर बुद्धि को ही ज्ञान का मूल मान बैठें तो रद्दोबदल वाली इस विचित्र दुनिया को सत्य मानने का कोई उपाय नहीं रह जाता।

स्पिनोज़ा के बाद लिबनिज़। ये भी बुद्धिवादी थे। पर एक हिसाब से यह कह सकते हैं कि उनकी असली कोशिश इस संकट से बुद्धिवाद को बचाने की थी। यानी यह कोशिश थी

कि स्पिनोजा के सर्वग्रासी ब्रह्म से संसार को बचाया जाए। लेकिन बुद्धिवाद पर अटल विश्वास रखकर ऐसा होना सम्भव भी है ? नहीं। इसलिए बुद्धिवाद को मानते हुए भी और तरह की बातों से कुछ-कुछ समझौता कर लेने की उन्हें कोशिश करनी पड़ी। कैसी कोशिश ?

ग्रीक-दानिशमन्द जेनो और हेराक्लाइटस में किस बात का विरोध था, याद है ? जेनो ने कहा था, दो विरोधी बातों को साथ ही सच नहीं माना जा सकता। या तो हां कहिए या ना कहिए। एक साथ हां और ना कहने का उपाय नहीं है। हम यह भी देख चुके हैं कि इस नियम को अरस्तू ने किस तरह भूल-नियम साबित करना चाहा था।

लेकिन लिबनिज़ ने कहा—इसीको एकमात्र नियम नहीं माना जा सकता। क्योंकि धरती पर जो वाकिया गुज़र रहे हैं, उनकी इस नियम से व्याख्या नहीं की जा सकती। एक घटना से लिबनिज़ की बात समझ में आ जाएगी। जैसे मान लीजिए, हम इस कमरे में हैं। यह एक वास्तविक घटना है। लेकिन इसका उलटा भी तो हो सकता था—हो ही सकता था कि हम इस कमरे में नहीं हैं। जहां तक वास्तविक घटना का सवाल है, दोनों हो बातें सही हो सकती हैं। लेकिन बुद्धि के जिस दावे को ही अरस्तू ने एकमात्र नियम माना, उससे ऐसा मुमकिन नहीं। इसीलिए लिबनिज़ ने कहा, इस नियम के सिवाय भी और एक नियम को मानना जरूरी है। उसका नाम उन्होंने दिया—लॉ ऑफ़ सफ़िशियेंट रीज़न। जो भी घटना घटती है, उसके पीछे कोई-न-कोई कारण ज़रूर होता है। हम इस कमरे

में क्यों हैं, दूसरे में क्यों नहीं हैं, इसका एक निश्चित कारण होना ही चाहिए। मगर इस निश्चित कारण का पता कहां से पाया जाए? बुद्धि के पास से? लिबनिज़ ने कहा, नहीं। इसका पता वहां से मिलेगा, जहां घटनाएं घटती हैं, धरती से। हम इस पर लिबनिज़ से पूछेंगे कि यथार्थ जगत् की जानकारी कैसे हासिल होगी? क्या केवल दिमाग लड़ाकर? हरगिज नही। अनुभव के सिवा वास्तव जगत की खबर मिलना मुश्किल है। इसलिए ऊपर हमने कहा था कि लिबनिज़ चाहे मानें या न मानें, बुद्धिवादी होते हुए भी आखिर उन्होंने मजबूरन कुछ ऐसी बातों से समझौता कर लिया, जो हकीकत में बुद्धिवाद के खिलाफ पड़ती हैं।

आधुनिक दर्शन में बुद्धिवाद का इतिहास यही है। इस इतिहास की सार बात यही है कि एकबारगी समझौता-विहीन बुद्धिवाद को अगर मानना पड़े, तो ससार को उड़ाए बगैर काम नहीं चल सकता।

अनुभववाद : लॉक, बर्कले, ह्यूम

दानिशमन्दों के एक दूसरे दल ने इस बुद्धिवाद के खिलाफ विद्रोह किया। उन्हें कहते हैं अनुभववादी, क्योंकि उनके खयाल में अनुभव ही ज्ञान का मूल है। मगर मज़े की बात यह है कि अखीर में इनका नतीजा भी वही रहा कि दुनिया नाम की कोई चीज़ नही है—सब-कुछ हमारे मन की धारणा है, मनगढ़न्त है। अनुभववाद इस पर कैसे जा पहुंचा, यह बताएं।

अनुभववादियों में मुख्य रूप से तीन के नाम लिए जा
हैं—लॉक, बर्कले, ह्यूम। लॉक ने बेशक दुनिया को एकबारगी
नदारद नहीं किया, पर बर्कले ने यह दिखाया कि अनुभव को
ही अगर ज्ञान का मूल मानें तो दुनिया को कबूल करने का
चारा ही नहीं रह जाता। बर्कले की बात को हद तक ले गए
ह्यूम।

पहले बर्कले की बात करें। उन्होंने कहा—ठीक जितने भर का हमें स्पष्ट अनुभव होता है, उतने ही को सत्य मानेंगे। मगर अनुभव होता किसके बारे में है? आमतौर से हम यह समझा करते हैं कि धरती की चीजों के बारे में हमें अनुभव होता है और वे चीजें हमारे मन के बाहर होती हैं। लेकिन भली तरह सोचने से यह मालूम होता है कि ये सारी बातें गलत हैं। क्योंकि हमें यह अनुभव कभी नहीं होता कि हमारे मन के बाहर भी कुछ है। अनुभव केवल धारणा के बारे में होता है। जैसे सन्तरे के बारे में हमारी जानकारी। गौर से देखिए, इस जानकारी का असल में अर्थ क्या है? उसका मिठास। लेकिन मिठास तो हमारी अपनी ही एक अनुभूति है। देखने में वह ललाई लिए होता है। यह भी तो हमारी अपनी ही एक अनुभूति है। छूने में ठण्डा लगता है। मगर ठण्डा कहिए या गरम, वह हमारी अनुभूति के सिवा और क्या है? इस तरह सन्तरे का हमारा जो ज्ञान है, उसका सब-कुछ ही कुछ अनुभूति है—मन की कुछ धारणाएँ। अब सवाल यह उठता है कि सवालों के इस गुच्छे के सिवाय सन्तरा नाम की किसी वास्तविक चीज को हम बाहरी दुनिया में मान सकते

[illegible] ना का मतलब ही है मन की धारणा के रूप में पाना, अनुभूति के रूप में पाना। अगर ऐसा ही है तो मन के बाहर सन्तरा नाम की चीज का होना नहीं माना जा सकता। जिसे जानते नहीं, जिसके बारे में कोई जानकारी नहीं है, उसे सत्य कैसे माना जाए ? जो बात सन्तरे की बाबत है, वही सबकी बाबत। यानी मन के बाहर को कुछ भी सत्य-सत्य नहीं माना जा सकता। अन्त तक सारे विश्वब्रह्माण्ड को ही केवल मन की धारणा कबूल करना पड़ेगा।

किन्तु बात यह है कि धारणा आखिर किसके मन की ? केवल हमारे अपने मन की ? मेरे अकेले के मन की ? अगर ऐसा ही हो तो आंखें मूंद लें, धरती गायब। दुनिया लापता। सब-कुछ अगर हमारे ही अपने मन की धारणा है तो हम आंख मूंद लें तो वे धारणाएँ कहां रहेंगी ?

बर्कले ने कहा—यह डर नहीं है। विश्वब्रह्माण्ड यद्यपि मन की धारणा ही है, तो भी वह धारणा हमारे मन की नहीं है। फिर किसके मन की है ? भगवान के मन की। इसीलिए हमारे-आपके आंख बन्द करने-खोलने पर यह निर्भर नहीं करता, यह निर्भर है उस लीलामय के अनन्त अनुभव पर।

लेकिन यही कैसे कहा जा सकता है ?—यह सवाल ह्यूम ने उठाया। अगर यही मान ले कि स्पष्ट अनुभव से जितना जान सकते है, उतना ही सत्य है, तो भगवान को मानने का कौन-सा उपाय रह जाता है ? भगवान के बारे में हमें किसी तरह का अनुभव नहीं होता। सो अनुभववाद को अगर आप

बिलकुल सही मानते हैं तो आखीर में यह मानना ही पड़ेगा कि मन की धारणा के सिवाय और कुछ भी सत्य नहीं है। यहां तक कि हमें-आपको या दूसरे कुछ लोगों का हाड़-मांस बना मानने का उपाय नहीं—सब धारणा है, केवल धारणा। आप नहीं हैं, हम नहीं हैं, विश्व नहीं है, संसार नहीं है—कुछ भी नहीं है। सबके बदले केवल धारणा है, धारणा।

अनुभववाद की सबसे बड़ी बात यही है। अगर अनुभव को ही ज्ञान का मूल मान लिया जाए, तो अन्त तक ऐसे एक सिद्धान्त पर पहुंचे बिना उपाय ही नहीं।

विज्ञान से प्रेरणा पाकर आधुनिक युग के दार्शनिकों ने तय किया था कि मध्ययुग के अन्धकार को हटाकर एक नए ही ढंग से सत्य की खोज में निकलेंगे। लेकिन अखीर में वे हमें कैसे एक असम्भव के राज्य में ले जाने की कोशिश करने लगे?

एक तरफ रहा बुद्धिवादियों का दल। बुद्धिवाद ने संसार को बिलकुल मिथ्या कहकर उड़ा देने की कोशिश की। दूसरी ओर रहे अनुभववादी लोग। इन्होंने निष्कर्ष निकाला, विश्व-संसार महज मन की धारणा है।

तो फिर उपाय?

कंट

इमानुएल कंट ने इसके लिए एक उपाय का इशारा किया। उन्होंने बताया, मध्ययुग के बाद दर्शन के मामले में हो-हल्ला चाहे जितना हुआ हो, असल में काम कुछ भी नहीं हुआ।

दर्शन सच पूछिए तो गन्दले पानी का डाबर ही रह गया। उसमें न तो आई निश्चयता, न प्रगति। इसका असली कारण यह कि विज्ञान का असली रूप क्या है, इसे न तो बुद्धिवाद समझ सका, न अनुभववाद। दोनों ही मत गलत हैं, क्योंकि दोनों ही ने आधे सत्य को पूर्ण सत्य मानने की कोशिश की। ज्ञान न तो केवल बुद्धि से पाया जा सकता है, न केवल अभिज्ञता से। ज्ञान के लिए बुद्धि और अनुभव का मेल होना जरूरी है। इसी मिलन से विज्ञान का ज्ञान सम्भव हुआ है। पदार्थ-विज्ञान और गणित-विज्ञान दोनों में बुद्धि और अनुभव का मेल है। यहां तक कि गणित विज्ञान भी जो अनुभव के बिना नहीं चलता, इसके सबूत में कँट ने कहा, आंखों के सामने तसवीर बिना रखे ज्यामिति नहीं पढ़ी जा सकती, अंगुली की खींची रेखा या वैसे ही कुछ का सहारा लिए बिना अंकगणित भी नहीं बनता। केवल अनुभव पर निर्भर करके पदार्थ-विज्ञान का आविष्कार नहीं होता। कँट ने इसे साबित कैसे किया, यह बताना तो यहां जगह की कमी से मुमकिन नहीं—उनके मूल सिद्धान्त की ही चर्चा की जाएगी। कँट ने बताया कि अनुभव से ज्ञान के माल-मसाले मिलते है। लेकिन माल-मसाले का ढेर ही इमारत नहीं है—अनुभव से मिले माल-मसाले से इमारत बनाने के लिए बुद्धि की कारीगरी चाहिए। इमारत केवल कारीगरी से भी नहीं तैयार होती, माल-मसाले की भी जरूरत पड़ती है। इसी तरह केवल बुद्धि के पास से ज्ञान नहीं मिलता। अनुभव के बिना बुद्धि निहायत फफकी हुई होती है; बुद्धि के बगैर अनुभव अन्धा और बेमानी होता है। विज्ञान को ऐसी जो

हैरत-अंगेज कामयाबी मिली है, उसकी असली वजह यही है कि विज्ञान की दुनिया में बुद्धि और अनुभव को ठीक-ठीक मिलाया जा सका है।

सवाल है कि ऐसा मेल दर्शन के मामले में भी मुमकिन है ? कैंट ने बताया, नहीं। क्योंकि कुछ ऐसे ही विषयों को लेकर दर्शन की समस्या है कि उनके मामले में बुद्धि के साथ अनुभव को मिला सकना सचमुच ही मुमकिन नहीं है। क्यों ? क्योंकि दर्शन की आलोचना के विषय हैं—आत्मा, विश्व, ईश्वर। और इन तीनों में से हमें किसी का अनुभव नहीं होता, न आत्मा का, न पूरे विश्व का, न ही ईश्वर का।

तो फिर इसका उपाय ? कैंट ने बताया, इसका उपाय नहीं है। यह मानना ही पड़ेगा कि दर्शन सम्भव नहीं है—चरम सत्य की खोज बेकार होने को लाचार है ! इसके बेकार होने का सबूत यही है कि मनुष्य यदि ज्ञान के संकरेपन को भूलकर चरम सत्य की खोज में मतवाला हो उठे, तो दो विरोधी बातों को साथ-साथ ही सत्य की मर्यादा दिए बगैर काम नहीं चल सकता।

मनुष्य की दार्शनिक कोशिशें किस तरह विरोधी भावों के भँवर में पड़ जाने को मजबूर होती हैं, कैंट ने इसके बहुत-से उदाहरण दिए हैं। उन्होंने जो साबित किया है, वह यह है कि दर्शन वास्तव में सम्भव नहीं है।

हेगेल

कैंट के बाद आये हेगेल। हेगेल ने यह बताया, दर्शन में

ऐसी जो एक असम्भव अवस्था पैदा हो गई है, उसका असली कारण यही है कि इतने दिनों से लोग अरस्तू की चलाई भूल युक्ति को ही मानते आए हैं। इसीलिए विचार के मामले में विरोध से वे घबरा उठते हैं। समझते हैं शायद यही मरीचिका भटकाकर हमें दलदल में ले जाएगी? लेकिन यह घबराहट एकबारगी अकारण है। इसलिए कि विरोध में भ्रम की बात तो दूर रही, विरोध ही सब-कुछ का मूल नियम है। सो अरस्तू ने जो तर्क-विज्ञान चलाया, वह गलत था। हेगेल ने कहा, उस तर्क-विज्ञान को हटाकर एकबारगी एक नया तर्क-विज्ञान चलाना पड़ेगा। इस नए तर्क-विज्ञान का नाम उन्होंने रखा—डायलेक्टिक तर्क-विज्ञान।

ग्रीक-युग में इस तर्क-विज्ञान का आभास मिला था हेराक्लाइटिस के दर्शन में। किन्तु उनके समय विचार का यह नया ढंग बहुत ही गरीब रूप में सामने आया था। लेकिन आधुनिक युग मे हेगेल-जैसे पण्डित बहुत कम पैदा हुए। उनके समय तक मानव-जाति के जितने अनुभव हुए, जितने आविष्कार हुए, सबको उन्होंने प्राप्त किया। इसलिए हेगेल के नए युक्ति-विज्ञान की आश्चर्य-जनक उन्नति हुई।

युक्ति-विज्ञान के दायरे में हेगेल के नए आविष्कार की कीमत बेशक बहुत ज्यादा थी, फिर भी उनका दार्शनिक मनवाद भ्रम के एक आवरण से लिपटा था। डायलेक्टिक युक्ति-विज्ञान का असल मतलब जानने के लिए सबसे पहली जरूरत यह पड़ती है कि उसके कल्पना के सांचे को चेतनता से हटाया जाए।

कल्पना का आवरण क्या हुआ ?

हेगेल ने बताया, द्वन्द्व या विरोधों के भँवर में दुनिया को गतिशील मानने पर भी सारी गति या परिवर्तन एक चिन्मय ब्रह्म का विकास है। इसलिए वह ब्रह्म ही सत्य है। जगत को हेगेल ने उड़ाना या अस्वीकार जरूर नहीं करना चाहा है, पर उनकी राय में इस जगत की अपनी कोई सत्ता नहीं है, *इसकी सत्ता है चेतना के विकास के रूप में।*

इसका मतलब यह हुआ कि हेगेल की राय में चेतना ही चरम सत्य है।

और इस तरह हेगेल भाववादी हैं।

ज्ञान और कर्म : भाववाद तथा वस्तुवाद

हेगेल दार्शनिक चाहे जितने बड़े रहे हों, भाववाद के *चंगुल से वे छुटकारा नहीं पा सके। पाते भी कैसे ?* हम भाववाद की जन्म-कहानी जान चुके हैं। हमने यह देखा है कि भाववादी विचार-धारा आसमान से नहीं टपक पड़ी है। उसके लिए मनुष्य के खयाल-विचार ही जिम्मेदार नहीं हैं, बल्कि उसकी असली जिम्मेदार है मनुष्य की समाज-व्यवस्था।

समाज में वर्गों का बंटवारा हो जाने से कर्म से ज्ञान का, श्रम से विचार का सरोकार जाता रहा था। समाज में मेहनत पर जीनेवालों की कद्र नहीं रह गई, जो हाथ धरती से लोहा लेने में जुटे थे, वे आंखों से ओझल होते गए और उन धूल-सने हाथों के साथ धूलों की धरती की बात भी ओट में पड़ती गई। दार्शनिकों ने सोचा, श्रम कोई चीज ही नहीं और

श्रमवाली धरती भी कुछ नहीं। सरबस है, चिन्तन; चिन्तन पर ही सब मुनहसर है—दुनिया की जड़ है चेतना, यह दुनिया मनगढ़न्त है।

इसी का नाम है भाववाद या अध्यात्मवाद। भिन्न-भिन्न युग में अलग-अलग नाम देकर इस मतवाद को चलाने की कोशिश पाई जाती है।

समाज की जिस वास्तविक अवस्था में इस भाववाद का बीज छिपा हुआ है, उस अवस्था को बदले बिना इसके मोह से विचारकों को छुटकारा नहीं मिल सकता। इसीसे हम पाते हैं कि इस मतवाद की मरीचिका में पड़कर सत्य की खोज भटक-भटक गई है।

मगर फ्रांस की क्रान्ति की याद है? उस क्रान्ति ने समाज की परिस्थिति को डगमगा दिया था। उसमें मिहनत-कशों की जमात ने समाज के सदर में टूट पड़ने की कोशिश की थी। उसी धक्के में विचारकों की चेतना से मानो भाववाद का मोह भी जाता रहा। उस समय के फ्रांसीसी दार्शनिकों ने ऊंची आवाज़ से यह ऐलान किया कि इस धूलों की धरती को चरम सत्य मानना पड़ेगा।

वालतेयर, दिदेरों, और भी बहुतेरे आगे आए। मगर फ्रांसीसी क्रान्ति मिहनत-कशों को विजयी तो नहीं बना सकी। इस क्रान्ति में समाज बदला, मगर मिहनतवालों की मिहनत की जीत नहीं हुई। सत्य की खोज करनेवालों ने फिर से पुराने भाववाद को ही नए बाने में अपना लिया।

गर्ज़ कि सत्य की खोज की यात्रा और समाज के परि-

वर्तन को अलग-अलग नहीं समझना होगा। महज मगजपच्ची से दुनिया की व्याख्या करें, तो श्रम के हाथों से छुट्टी नहीं मिल सकती, सत्य का निदेश नहीं मिल सकता। सत्य को पाने के लिए श्रम को भी मर्यादा देनी होगी।

इसीलिए दर्शन की समस्या को भी नए सिरे से सुलझाने की जरूरत है।

कार्ल मार्क्स ने बताया, आज तक सारे दानिशमन्द दुनिया की केवल व्याख्या ही ढूंढ़ते रहे हैं; मगर असली जो समस्या है, वह है दुनिया को बदलने की।

दुनिया को बदलने की इस पुकार पर आधी दुनिया के लोग कमर कसकर आगे आए हैं। वे दुनिया में एक नई दुनिया बसाएंगे, जहां शोषण नहीं रहेगा—मिहनत और मिहनत-कशों की मर्यादा होगी। मनुष्य से मनुष्य का वह सहज सरोकार लौट आएगा—मगर उसकी नींव आदिम युग की कमी-खामी पर नहीं, एक उन्नत स्तर पर पड़ेगी।

इसलिए अब अध्यात्म की माया में लोग कल्पना में विभोर नहीं रहेंगे। परलोक के मोह में पड़कर आजादी के सही रास्ते से भटक नहीं सकेंगे।

डायलेक्टिकल वस्तुवाद

वस्तुवादियों का कहना है, यह दुनिया मनगढ़न्त नहीं है। यह किसी प्रकार के आध्यात्मिक विकास का नतीजा नहीं है। पृथ्वी जिन चीज़ों की बनी है, वे जानी जा सकती हैं, चीन्ही जा सकती हैं, उन्हें बदला जा सकता है। इन्हीं चीज़ों को वस्तु

कहते हैं, अंग्रेजी में इन्हींका नाम है मैटर। विज्ञान दिन-दिन वस्तुओं के बारे में नई-नई खबरें देता चल रहा है। उसकी आखिरी मंजिल शायद अभी भी नहीं आई—पर इसका मतलब यह नहीं कि जितना जाना गया है, वह निहायत निकम्मा है।

दर्शन के इतिहास में वस्तुवाद कोई नई नही अनहोनी बात है। अभी-अभी कह चुके है कि फ्रांसीसी क्रान्ति के समय वहां के दार्शनिक भी वस्तुवादी हो उठे थे। मगर उस वस्तुवाद में कमजोरी थी।

वह कमजोरी क्या थी, अगर यह जानना हो तो पहले यह सोच देखना पड़ेगा कि सत्य की खोज का इतना लम्बा जो इतिहास है, थेलिस से हेगेल तक अनुभव की इतनी बड़ी जो पूंजी है, उसमें भाववाद का मोह कितना ही प्रबल क्यों न हो, लेकिन उसकी क्या कोई कीमत ही नहीं? उसकी भी कीमत है। अनुभवों के ही बल पर मनुष्य ने अन्त में यह समझ पाया था कि विचार के राज्य में सही नियम कौन-से हैं। हेगेल के दर्शन में उन नियमों का परिचय पाया जाता है।

इन्हीं नियमों का नाम है डायलेक्टिकल नियम। ये नियम कोई विचार जगत के ही नही हैं, तर्क-विज्ञान के ही नहीं हैं, वास्तव जगत के लिए भी ये नियम सत्य हैं।

ये नियम हैं क्या? यहां कुछ खास-खास नियमों का जिक्र किया जाए।

पहला तो यह कि परिवर्तन या गति को सत्य मानना होगा। कुछ भी चिरन्तन नही है, सनातन नही है—हर कुछ हर समय बदल रहा है। जहां देखिए, हर बात में एक ओर

मृत्यु की निशानी है, दूसरी ओर नए जन्म का चिन्ह।

दूसरे गति को अगर सत्य मान लेते हैं, तो विरोधी भावों के द्वन्द्व को सत्य मानना होगा। डायलेक्टिक के अनुसार इसीलिए विरोध या द्वन्द्व मिथ्या या माया नहीं। वह सत्य है, जीवित है।

तीसरे यह कि दुनिया की चीजों को अगर अलग-अलग देखें तो उनमें गति का स्वरूप साफ नहीं होता। मगर डायलेक्टिक पद्धति से अलग-अलग देखना ही गलत है? दुनिया में कोई भी चीज अकेली नहीं होती, किसी भी चीज की अपनी अलग सत्ता नहीं होती। यों देखने में दो चीजें बिलकुल अलग दीखती हैं, उनमें कोई सरोकार नहीं नज़र आता, मगर गौर करने से पता चलता है कि वे अलग नहीं हैं। सारी दुनिया के सब-कुछ में लगाव है।

चौथे, गति का विकास होता कैसे है? इस पर यह मत दो नियम बताता है। एक—अभाव का अभाव। दूसरा—परिमाण से गुण।

मान लीजिए खेत में मुट्ठी-भर धान बिखेर दिया। कुछ दिनों के बाद देखेंगे, धान धान नहीं रह गया है, धान का पौधा हो गया। उन पौधों में क्या धान देख पाते हैं? नहीं। मतलब यह निकला कि धान नहीं रहा, धान का अभाव हो ... जाएंगे, उनका

अभाव, अभाव का अभाव। नतीजा क्या निकला? पहले भी धान था, बाद में भी धान। इसका माने क्या फिर से पहली दशा में लौट जाना है? वह भी नहीं। क्योंकि जो गुण भण्डार के धान में है, वह बीये वाले धान में नही था। बीये के धान से दुनिया वालों का पेट नही पाला जा सकता था, भण्डार के धान से वैसा किया जा सकता है। इससे यह मानना ही पड़ेगा कि भण्डार में पहुंचे हुए धान में एक नया ही गुण आ गया है। अब यह विचारें कि यह फर्क क्यों पड़ा? कैसे पड़ा? यों देखने में मालूम होता है कि यह फर्क परिणाम का है—भण्डार में धान की तादाद बहुत है। साथ ही उसमें नया गुण भी आ गया है। तो परिणाम बदलते-बदलते नया गुण भी आ जाता है। इसीको कहते हैं परिणाम से गुण।

फ्रांसीसी क्रान्ति के समय वहां के दार्शनिकों ने वस्तुवाद की बात उठाई थी, पर उसमें परिवर्तन को जगह नही थी। उसके बदले उन्होंने यह समझा था कि यह दुनिया यन्त्र-जैसी है।

कार्ल मार्क्स ने बताया, वस्तुवाद की बात ही ठीक है। मगर वह वस्तुवाद गलत है जिसमें गति की बात नही मानी गई। वस्तुवाद को मानना है, उसके साथ गति को भी मानना है। इसलिए मार्क्स का दर्शन है गतिशील वस्तुवाद। गति के सही कायदे-कानून का आविष्कार हेगेल ने किया—उसीका नाम है डायलेक्टिक। इसीसे गतिशील वस्तुवाद का नाम पड़ा डायलेक्टिक वस्तुवाद।

● ○